21

श्रम-प्रधान विकेन्द्रित उद्योग

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग द्वारा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन और अपेक्षाकृत अधिक रोजगार

भारत के अनुकूल किस प्रकार की अर्थव्यवस्था होनी चाहिए, यह बात इस प्रश्न के उत्तर पर आधारित है कि हमारा उद्देश्य क्या है ? यदि हम काम में लगाए गए प्रति व्यक्ति के उच्चतम उत्पादन को ही अपना उद्देश्य मान लें तो यह उत्पादन ठोस प्रकार से प्रति व्यक्ति पूंजी से संबंधित है। हमें पश्चिमी देशों के नमूने के आधार पर पूंजी-संरचना के साथ अर्थव्यवस्था को बनाना चाहिए जहां यह राशि अधिक होती है। लेकिन पाठक को आगामी पृष्ठों में यह पता लगेगा कि यदि हम अपने हृदय में कुल मिलाकर लोगों के कल्याण की भावना को ही रखें तो कभी-न-कभी भारत जैसे देश में जो पूंजी की दृष्टि से गरीब है और श्रम की दृष्टि से धनी है, ऐसी अर्थव्यवस्था होनी चाहिए जिसका समर्थन महात्मा गांधी ने किया था। उन्होंने जिस प्रकार की अर्थव्यवस्था का स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया था, वह अर्थव्यवस्था आज के प्रसंग में न केवल कुल मिलाकर अपेक्षाकृत अधिक सम्पत्ति पैदा कर सकती है अपितु हमारे अन्य उद्देश्यों को भी पूरा कर सकती है अर्थात् इससे अधिकतम रोजगार पैदा होंगे। राष्ट्रीय उत्पाद का समान वितरण सुनिश्चित होगा और इससे जीवन का लोकतांत्रिक ढंग उन्नत होगा।

कपास उद्योग के पूंजी और उत्पादन के मध्य संबंध दिखाने वाले कुछ उदाहरण यह प्रकट करेंगे कि कुल मिलाकर यह अपेक्षाकृत कम पूंजी प्रधान संरचना है जो भारत की आवश्यकता को सर्वाधिक पूरा करती है। स्वर्गीय डॉ॰ पी॰ एस॰ लोकनाथन के अनुसार भारत में मिलों द्वारा सूती वस्त्रों का निर्माण इस शताब्दी के पांचवें दशक में हुआ था। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उत्पादन के चार अलग-अलग तरीके

अपनाए गए हैं जिनमें पूंजी सघनता (अर्थात् प्रति कामगार पूंजी निवेश) की मात्रा की ह्रासमान गति निहित है । इस संबंध में संगत विवरण मोटे तौर पर तालिका 137 में दिए गए हैं :

तालिका 137

भारत में सूती कपड़े की बुनाई में लगी पूंजी और उत्पादन

उत्पादन का तरीका	पूंजी प्रधान (अथवा प्रति कामगार दर से पूंजी निवेश)	उत्पादन अथवा प्रति व्यक्ति निवल मूल्य वृद्धि)	पूंजी गुणांक (अथवा निवल मूल्य का अनुपात अथवा पूंजी का उत्पादन)	रोजगार में कुल श्रमिकों की प्रति इकाई पूंजी
1. आधुनिक मिल अथवा समन्वित कारखाना जिसमें कताई तथा बुनाई की स्थापनाएं शामिल हैं (बड़े पैमाने पर उद्योग)	1,200	650	0.54	1
2. बिजली चालित करघा अथवा छोटी कारखाना जिसमें केवल बुनाई की स्थापनाएं शामिल की जाती हैं (छोटे पैमाने उद्योग)	300	200	0.66	3
3. स्वचालित करघे (कुटीर उद्योग)	90	80	0.90	15
4. हथकरघा (सूती कपड़े के उद्योग)	35	45	1.29	25

स्रोत : डॉ० पी० एस० लोकनाथन के एक लेख 'काटेज इंडस्ट्रीज एंड द प्लान' के अंतर्गत जो तालिका दी गई है उसे यहां दिया गया है । यह लेख 23 जुलाई, 1943 को 'इस्टर्न इकनॉ-मिस्ट' के पृष्ठ 340 पर प्रकाशित हुआ था ।

एक अन्य स्रोत के अनुसार श्री ए० के० सेन के अध्ययन को संयुक्त राष्ट्र संघ के 'वर्ल्ड इकनॉमिक सर्वे', 1961, पृष्ठ 54 पर उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार 17 वर्षों के बाद की भारतीय सूती बुनाई उद्योग में प्रचलित पांच अलग-अलग तकनीकों के लिए पूंजी और श्रम की तुलनात्मक उत्पादकता के आंकड़े दिखाए गए हैं जैसा कि आगामी तालिका में बताया गया है :

तालिका 138

भारतीय सूती कपड़े की बुनाई के उद्योग, जो वैकल्पिक तकनीकों का प्रयोग कर रहे हैं के पूंजी और श्रम की उत्पाकता के अनुमान

तकनीक	जमा पूंजी की प्रति इकाई में जोड़ा गया मूल्य	प्रति कामगार के लिए जोड़ा गया मूल्य
1. फ्लाई शटल हथकरघा	9.0	450
2. अर्धस्वचालित हथकरघा	7.5	1500
3. कुटीर बिजली-चालित करघा	1.5	2250
4. कारखाना अस्वचालित बिजली-चालित हथकरघा	1.5	6000
5. स्वचालित बिजली करघा	0.6	48000

स्रोत : ए० के० सेन की लिखित पुस्तक 'चौइस ऑफ टैकनीक्स:' एन आसपैक्ट ऑफ द थियोरी ऑफ प्लांड इकनॉमिक डवलपमैंट' (आक्सफोर्ड 1960), में प्रकाशित विवरण से ली गई है। दत्थी 'ग'.

सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ० के० एन० राज ने एक दूसरी तालिका तैयार की है जो आगे दी जाती है। इस तालिका का अध्याय 16 में वर्णन किया गया है :

तालिका 139

	कारीगर प्रकार (परंपरावादी)	छोटे पैमाने (अर्घ-चालित करघा)	बड़े पैमाने (पूर्ण स्व-चालित करघा)
1	2	3	4
प्रति करघा पूंजी लागत	50 रुपए	200 रुपए	1000 रुपए
एक कामगार द्वारा काम में लाए जाने वाले करघों की संख्या	1	1	16
प्रति कामगार पूजी लागत	50 रुपए	200 रुपए	1600 रुपए
प्रति करघे का की प्रति दिन का उत्पादन	4 गज	20 गज	80 गज
प्रति हथकरघे का द्वारा प्रति वर्ष निवल मूल्य-वृद्धि (25 पैसा प्रतिगज और एक वर्ष में 300 घंटे काम करके)	300 रुपए	1500 रुपए	6000 रुपए

1	2	3	4
प्रति कामगार द्वारा प्रतिवर्ष मूल्य वृद्धि	300 रुपए	1500 रुपए	96000 रुपए
प्रायः एक कामगार द्वारा अर्जित वार्षिक वेतन	300 रुपए (1 रुपए प्रतिदिन की दर से)	900 रुपए (3 रुपए प्रतिदिन की दर से)	1500 रुपए (5 रुपए प्रतिदिन की दर से)
प्रति कामगार का प्रतिवर्ष की बेशी	कुछ भी नहीं	600 रुपए	94500 रुपए

कुटीर, छोटे पैमाने और बड़े पैमाने के करघों की तीन प्रकार की तकनीकों में श्रम, पूंजी और उत्पादन का संबंध जैसा कि ऊपर दी गई तीन तालिकाओं में दिखाया गया है, का सारांश इस प्रकार है :

तालिका 140

कुटीर, लघु और बड़े उद्योगों के श्रम, पूंजी और उत्पादन में संबंध

प्रति कामगार के हिसाब से जोड़ा गया निवल उत्पादन अथवा मूल्य			पूंजी की प्रति इकाई के हिसाब से जोड़ा गया उत्पादन अथवा मूल्य			पूंजी की प्रति इकाई के हिसाब से रखा गया श्रम		
कुटीर	लघु	बड़े	कुटीर	लघु	बड़े	कुटीर	लघु	बड़े
45	200	650	1.29	0.66	0.54	25	3	1
450	2250	4800	9.6	1.5	0.6			
300	1500	96000	6.0	7.5	0.6	200	4	1

ऊपर की तालिका में जो विवरण दिखाए गए हैं यद्यपि उनका संदर्भ केवल एक उद्योग अर्थात् सूती कपड़ा उद्योग से है, उनका किसी विशेष उद्योग की विभिन्न तकनीकों अथवा प्रौद्योगिकियों के परस्पर मोटे तौर पर संबंध दिखाने के लिए उदाहरण दिया जा सकता है।

तालिका 137, 138, 139 और 140 के निष्कर्षों की पुष्टि टैक्सटाइल जांच समिति की रिपोर्ट (सितंबर 1954) द्वारा की गई है। इस रिपोर्ट में यह बताया गया है कि 1953 में संगठित सूती कपड़ा उद्योग में लगभग 2,50,000 कामगारों को सीधा ही रोजगार दिया गया था; देश में बिजलीचालित करघों की यूनिटें जो बड़ी और लघु दोनों थीं और जिन्हें टैक्सटाइल्स आयुक्त ने टेक्स मार्क की संख्या दे दी थी, ने 55,000 कामगारों को सीधा ही रोजगार उपलब्ध कराया और हथकरघा उद्योग ने

15,00,000 कामगारों (पूर्णकालिक कामगारों) को रोजगार प्रदान किया। प्रतिवर्ष मिलों का उत्पादन 48,000 लाख गज और वर्तमान परिस्थितियों में बिजली-चालित करघा उद्योग ने लगभग 2,000 लाख गज का उत्पादन किया है। उद्योग से आशा की जाती है कि वह एक वर्ष में 14,000 लाख गज का उत्पादन करेगा। इससे साढ़े तीन गुना उत्पादन के लिए मिल उद्योग हथकरघा उद्योग में लगाए गए कामगारों (अनुमानतः 2.5 लाख कामगार जिनमें सहायक भी शामिल किए गए हैं, लगभग 2 लाख करघों की दोनों पारियों में सीधे ही काम पर लगाए जाते हैं) की कुल संख्या का $\frac{1}{6}$ भाग के कामगारों को सीधा ही रोजगार देगा। इसलिए यदि मिल उद्योग और हथकरघा उद्योग में बराबर-बराबर उत्पादन किया जाय तो मिल उद्योग में लगाए गए जितने कामगार होंगे उनकी तुलना में हथकरघा उद्योग में रोजगार की संभावनाएं लगभग 20 गुनी होंगी और बिजली-चालित हथकरघा उद्योग में चार गुनी होंगी।

भारत सरकार के उद्योग विभाग के खादी और ग्रामीण उद्योग अनुभाग की 1969-74 की चौथी पंचवर्षीय योजना की अवधि में कार्यविधि की रिपोर्ट के अनुसार, जो अगस्त 1974 में प्रकाशित की गई थी, बड़े क्षेत्रक उद्योगों की तुलना में खादी और ग्रामीण उद्योगों में कामगार को रोजगार दिलाने के लिए पूंजीनिवेश बहुत कम था। टैक्सटाइल उद्योग के 10,000 रुपए के निवेश की तुलना में खादी और ग्रामीण उद्योगों का औसत निवेश 530 रुपए था जबकि सीमेंट अथवा स्टील उद्योग में 5 से 10 लाख रुपए तक का निवेश किया गया था। 1974-75 के लिए उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के अनुसार कुल मिलाकर बड़े पैमाने के क्षेत्रक में एक व्यक्ति को रोजगार देने के लिए आवश्यक निवेश की राशि 29,000 रुपए थी।

योजना आयोग के सांख्यिकीय सलाहकार प्रोफेसर महालनोबिस ने एक लेख लिखा है जिसमें बहुत ही महत्वपूर्ण आंकड़े दिए गए हैं। प्रोफेसर महालनोबिस को एक रूप से हमारे भारी उद्योग के कार्यक्रम का निर्माता समझा जाता है। उनका यह लेख इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट की पत्रिका 'सांख्य', दिसम्बर, 1955 में शामिल किया गया है। इस लेख के तथ्यों के आधार पर तालिका इस प्रकार है :

तालिका 141

एक करोड़ रुपए के निवेश की मदें	उत्पन्न किए गए संसाधनों की राशि	पैदा किए गए रोजगार
भारी उद्योग	14 लाख	500
उपभोक्ता वस्तुएं (लघु और घरेलू) उद्योग	33 लाख	1500
कृषि	57 लाख से 69 लाख तक	4000

टिप्पणी : यहां कुटीर अथवा घरेलू उद्योग से संबंधित आंकड़े अलग-अलग दिखाए गए हैं लेकिन छोटे पैमाने के उद्योग के साथ जोड़ दिया गया है।

श्रम-प्रधान और पूंजी-प्रधान अथवा छोटे पैमाने और बड़े पैमाने के उद्योग के तुलनात्मक लोगों के संबंध में निष्कर्ष और टीका-टिप्पणियों की पुष्टि 1959 से स्टैटिस्टिक्स एक्ट, 1953 के अंतर्गत भारत सरकार के उद्योगों के व्यापक सर्वेक्षण (ए० एस० आई०) द्वारा प्रतिवर्ष की जाती है। इस ए० एस० आई० के स्थान पर विनिर्माण उद्योगों का सरल सर्वेक्षण किया गया और यह सर्वेक्षण स्वैच्छिक आधार पर 1950 से किया जा रहा था।

ए० एस० आई० का सर्वेक्षण पूरे कारखाना क्षेत्रक तक सीमित है। इस क्षेत्रक के कारखाने फैक्टरी एक्ट, 1948 की धारा 2 एम (i) और 2 एम (ii) के अंतर्गत रजिस्टर कर लिए गए हैं अर्थात् ऐसे कारखाने शामिल किए जाते हैं जिनमें 10 या इससे अधिक कामगार काम करते हैं और बिजली का उपयोग किया जाता है और इनमें 20 या इससे अधिक कामगार काम पर लगाए जाते हैं लेकिन इनमें बिजली का उपयोग नहीं किया जाता है। कुटीर उद्योग ए० एस० आई० की सीमा क्षेत्र से परे हैं।

ऐसे कारखाने जिनमें 50 या इससे अधिक कामगार काम करते हैं और जिन्हें बिजली की सहायता से चलाया जाता है, अथवा ऐसे कारखाने जिनमें 100 या इससे अधिक कामगार काम करते हैं और जिनमें बिजली का उपयोग नहीं किया जाता है, पूर्णतया गिने जाते हैं। शेष कारखाने जिनमें 10 से 49 तक कामगार काम पर लगाए जाते हैं और जिनमें बिजली का उपयोग होता है अथवा ऐसे कारखाने जिनमें 20 से 99 तक कामगार काम पर लगाए जाते हैं और जिनमें बिजली का उपयोग नहीं होता, संभाव्यता नमूने के हिसाब से गिने जाते हैं। पहले ग्रुप के कारखानों को 'गणना क्षेत्रक' और दूसरे ग्रुप के कारखानों को 'नमूना क्षेत्रक' कहा जाता है।

गणना क्षेत्रक के कारखाने भारत की औद्योगिक अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। यद्यपि ये कारखाने 1970 में कुल रजिस्टर्ड कारखानों की संख्या का $\frac{1}{5}$ भाग (21 प्रतिशत) के बराबर हैं। उनमें उत्पादक पूंजी के लगभग 94 प्रतिशत, रोजगार के 83 प्रतिशत और विनिर्माण द्वारा जोड़े गए मूल्य का 89 प्रतिशत है।

1970 में एक छोटे कारखाने के लिए उत्पादित पूंजी की मूल्य वृद्धि के साथ अनुपात 1.97 था जब कि औसत बड़े कारखाने के लिए 4.76 था। इसी प्रकार छोटे प्रकार के कारखाने के संबंध में उत्पादित पूंजी का सकल उत्पादन के मूल्य का अनुपात बहुत कम (0.33) रहा जबकि इसकी तुलना में बड़े पैमाने के कारखाने के लिए अधिक (1:20) रहा। इसका अर्थ यह है कि यदि औसत रूप से एक रुपए मूल्य के कारखाने की वस्तुओं का निर्माण किया जाए तो छोटे पैमाने के कारखानों में औसत रूप से 33 पैसे की पूंजी लगाई जानी थी जबकि इसकी तुलना में औसत रूप से बड़े कारखाने में 1.20 पैसे लगाए जाने के और यदि निवल मूल्य के रूप में एक रुपए को पैदा करना था तो छोटे पैमाने के उद्योग में 1.97 रुपए और उसकी तुलना में औसत बड़े पैमाने

तालिका 142

संरचनात्मक सम्बन्ध (आकार के अनुसार) : 1970

मदें	बड़ें	लघु
1. प्रति कारखाने की उत्पादित पूंजी (लाखों रुपए में)	203.13	1.89
2. प्रति एक लाख रुपए का रोजगार	3.8	19.0
3. प्रति कारखाने का रोजगार (संख्या)	777	36
4. प्रति कारखाना के हिसाब से सकल उत्पादन (लाखों रुपयों में)	169.94	5.73
5. प्रति कारखाने की मूल्य वृद्धि (लाखों रुपयों में)	42.68	0.96
6. प्रति कामगार उत्पादित पूंजी (रुपए)	26,130	5,240
7. प्रति कामगार सकल उत्पादन (रुपए)	21,866	15,917
8. प्रति कामगार द्वारा मूल्य (रुपए)	5,490	2,665
9. सकल उत्पादन के मूल्य की प्रतिशतता के रूप में मूल्य-वृद्धि	25.1	16.7
10. अनुपात :		
(i) मूल्य वृद्धि का अनुपात उत्पादन पूंजी के साथ	4.76	1.97
(ii) सकल मूल्य का उत्पादन पूंजी के साथ	1.20	0.33

के कारखाने में 4.76 रुपए लगाए जाने थे।

तालिका 142 में वर्ष 1970 में बड़े पैमाने और छोटे पैमाने दोनों ही प्रकार के जनगणना क्षेत्रक कारखानों की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के तुलनात्मक आंकड़ों को दिखाया गया है—छोटे पैमाने का कारखाना इस प्रकार का है जिसके संयंत्र और मशीन का सरल निवेश 7.5 लाख रुपए या उससे कम राशि का है :

इसी प्रकार, औसत रूप से, निवेश की प्रति इकाई के हिसाब से छोटे पैमाने के कारखाने ने बड़े पैमाने के कारखाने की तुलना में 5 गुने रोजगार की व्यवस्था की है अर्थात् छोटे पैमाने के कारखाने ने 19.0 की व्यवस्था की है जबकि बड़े पैमाने के कारखाने ने 2.8 की व्यवस्था की है।

वर्ष 1975-76 के उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण के 12, 13 और 14 विवरण से विदित होगा कि छोटे क्षेत्रक में 76 प्रतिशत कारखाने थे अर्थात् कुल 71,705 में से 54,374 थे। 1975-76 में चालू छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाई की परिभाषा यह थी कि ऐसी इकाई में संयंत्र और मशीनरी का मूल मूल्य 10 लाख रुपए या इससे कम था। इन यूनिटों में से लगभग 70 प्रतिशत इकाइयों में 5 लाख रुपए से अधिक निवेश नहीं किया गया था और 47 प्रतिशत कारखाने अर्थात् 33,596 कारखाने छोटे

क्षेत्रक के थे अर्थात् इन यूनिटों में एक लाख रुपए से कम के संयंत्र और मशीनों का निवल निवेश था।

इसके अलावा प्रति कर्मचारी स्थायी पूंजी उद्योग के आकार के बढ़ने के साथ ही बढ़ती गई। इसी प्रकार की प्रवृत्ति प्रति कर्मचारी मूल्य वृद्धि के मामले में भी देखी गई। धीरे-धीरे लाभ में सुधार हुआ जैसे-जैसे पूंजी की मात्रा बढ़ती गई। परंतु पूंजी के लाभ की औसत दर छोटे पैमाने के क्षेत्रक के लिए अधिक (0.26) थी जबकि इसकी तुलना में औसत रूप से सभी कारखानों के लिए 0.14 थी। एक छोटे क्षेत्रक में ही, छोटे कारखानों, जिनका निवेश 1 लाख रुपए से कम था और मुश्किल से स्थायी का 1.6 प्रतिशत भाग था, ने लगभग 14 प्रतिशत रोजगार, 8 प्रतिशत उत्पादन और पूंजी 5 प्रतिशत मूल्य-वृद्धि प्रदान की।

इसलिए यह देखा जाएगा कि जहां तक प्रति कामगार निवल उत्पादन (अथवा मूल्य वृद्धि) का संबंध है, इसका उद्यम के आकार और तकनीक से ठोस संबंध है अर्थात् जैसे-जैसे उद्यम का आकार बढ़ता है, उसमें पूंजी की प्रधानता होती जाती है अथवा प्रति कामगार पूंजी का निवेश किया जाता है और/अथवा उस उद्यम की प्रौद्योगिकी में सुधार होता जाता है। छोटे पैमाने के उद्योग की तुलना में कुटीर उद्योग में प्रति कामगार उत्पादन कम होता है और छोटे पैमाने के उद्योग बड़े पैमाने या पूंजी प्रधान उद्योग की तुलना में कम उत्पादन देते हैं, जबकि मूल्य-वृद्धि तथा स्थायी पूंजी-निवेश की प्रति इकाई के हिसाब से लगाए गए श्रम की दृष्टि से संबंध नगण्य होता है। जैसे-जैसे प्रति कामगार के हिसाब से पूंजी निवेश की वृद्धि होती जाती है और प्रौद्योगिकी में सुधार होता जाता है, वैसे-वैसे उस उद्यम में अपेक्षाकृत कम वस्तुएं पैदा होती हैं और कम लोग रोजगार पर लगाए जाते हैं।

इन तथ्यों से तीन ठोस परीक्षण अर्थात् प्रति व्यक्ति उत्पादन, स्थायी पूंजी निवेश का प्रति इकाई उत्पादन और निवेश की प्रति इकाई रोजगार के मध्य संघर्ष को राहत मिलती है, विभिन्न उद्देश्यों में एक दूसरे के साथ प्रतियोगिता करते नज़र आते हैं लेकिन हमारे न्यास की दृष्टि से अर्थात् पूंजी का अभाव और श्रम की प्रचुरता से बहुत ही अल्प अथवा नगण्य संघर्ष है और जब कभी उद्योगों की तकनीकों अथवा प्रकारों में चयन करने का प्रश्न उठता है, इससे कोई कठिनाई हमारे सामने उत्पन्न नहीं होती है। पूंजी प्रधान उद्यम उन लोगों के लिए लाभदायक हो सकते हैं जो उन उद्यमों में काम पर लगे हुए हैं क्योंकि उन कामगारों की अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी मिल जाती है। श्रम प्रधान उद्यम कुल मिलाकर देश के लिए लाभदायक होते हैं क्योंकि हमारे देश में पूंजी का अभाव है (क्योंकि ऐसे उद्यमों के लिए कम पूंजी की आवश्यकता होती है), गरीबी की अधिकता है (क्योंकि वे निवेश की प्रति इकाई की दृष्टि से अधिक उत्पादन करते हैं) और श्रम अधिक है (क्योंकि वे अधिक रोजगार देते हैं)। पश्चिमी विश्व के देशों में सरकारों और अर्थशास्त्रियों को यह चिंता होती है कि श्रम को बढ़ाया जाए

जबकि एक राष्ट्र के रूप में उनकी चिंता पूंजी की वृद्धि के लिए होनी चाहिए। हमारे पास पूंजी का अभाव है लेकिन श्रम का अभाव नहीं है जैसा कि उन्नत देशों में है। इन दो मार्गों में से, अर्थात् कुछ ही व्यक्तियों के लिए अधिक आय अथवा पूंजी प्रधान उद्यम एक रास्ता है और सभी उत्पादनों के लिए आय बढ़ाने वाला मध्यम मार्ग अथवा श्रम प्रधान दूसरा रास्ता है। हमें दूसरे रास्ते को चुनना है जिसे जापान ने भी अपनाया है।

मूल सिद्धांत इतनी दृढ़ता से प्रतिपादित किया गया है और हमारे देश में इसका इतना पहले हुआ है तथा पहले दी गई तालिकाओं में इसका उल्लेख किया गया है अर्थात् कुटीर और छोटे पैमाने के उद्यमों को सहायता की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही साथ चूंकि स्थायी पूंजी निवेश की प्रति इकाई के हिसाब से अपेक्षाकृत अधिक पूंजीनिवेश की आवश्यकता होती है जबकि इसकी तुलना में बड़े उद्योग इतना ही उत्पादन करते हैं और इस तथ्य का पूर्णतया विरोध नहीं किया गया है।

कुछ ऐसे अर्थशास्त्री और अर्थ-विशेषज्ञ हैं जो यह विश्वास करते हैं कि अधिकांश आधुनिक मशीनें, लगाई गई पूंजी के प्रति इकाई के हिसाब से अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन देती हैं जबकि इनकी तुलना में जटिल मशीनें, जिनमें अधिक कामगार लगाए जाते हैं, अपेक्षाकृत कम उत्पादन देती हैं।

2 और 9 जनवरी, 1971 के 'इकनॉमिक एंड पॉलीटिकल वीकली', बंबई में प्रकाशित "पावर्टी इन इंडिया" शीर्षक लेख में वी० एम० दांडेकर और नीलकंठ रथ ने इस संबंध में अपने मत प्रकट किए हैं और कहा है कि कुटीर उद्योग को स्थायी उत्पादन के लिए अपेक्षाकृत अधिक श्रम की आवश्यकता होती है और इस प्रकार के उद्योग में लगाए गए प्रति व्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत कम पूंजी की आवश्यकता होती है। यह किसी भी प्रकार से निश्चित नहीं है कि इस प्रकार के उद्योग में उत्पादन की प्रति इकाई के हिसाब से अपेक्षाकृत कम पूंजी की आवश्यकता होती है। वास्तव में उनके मतानुसार विशेष जांच से यह विदित होगा कि प्रायः उन्हें कम से कम एक निर्धारित उत्पादन के लिए उतनी ही पूंजी की आवश्यकता होती है जितनी कि आधुनिक उद्योग के लिए होती है और यह पूंजी कम नहीं होनी चाहिए परंतु वे वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहते और अपने इस मत के समर्थन में कोई भी विवरण नहीं देना चाहते।

पी० एन० धर और आर० पी० लायडल ने जो अध्ययन[1] किया है उसके अनुसार जब छोटे संयंत्र आधुनिक और पंजीकृत कर दिए जाते हैं तो बड़ी इकाइयों में पूंजी-उत्पादन का अनुपात कम होने के लिए कतिपय उद्योगों में इसी प्रकार की प्रवृत्ति

1. 'द रोल ऑफ स्मॉल एंटरप्राइजिंग इन इंडियन इकनॉमिक डवलपमेंट', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, 1961.

हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि छोटे पैमाने के उद्यमों की तुलना में बड़े पैमाने के उद्यम पूंजी-निवेश की प्रति इकाई के हिसाब से अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन देते हैं फिर भी डॉ० गुन्नार मिर्डल ने यह बताया है (और उनके कथन को धर और लायडल ने भी स्वीकार किया है) कि, "सांख्यिकीय सामग्री जो कि उन्होंने तैयार की है कमजोर है, इन निवेशों में कतिपय अध्ययनों से विभिन्न प्रकार के परिणाम प्राप्त हुए हैं।[2] उदाहरणार्थ प्रोफेसर डडले सियर्स ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन को प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट 'टुवर्ड्स फुल एम्प्लॉयमेंट' (1970) में कहा है, कि "पूंजी और श्रम के अनुपात और पूंजी-उत्पादन के अनुपात छोटे उद्योगों और हस्तकलाओं में कम होते हैं।" (पृष्ठ 118-119, पैरा 366)।

13 नवंबर, 1970 को दिल्ली में आयोजित जवाहरलाल नेहरू स्मारक भाषण के अंतर्गत जैन टायबरगैन ने अपने सहयोगी बी० हरमैन की पुस्तुक का संदर्भ दिया। बी० हरमैन ने इस प्रकार के आंकड़े एकत्र किए थे जो यह बताते हैं कि दस लाख रुपयों में अधिक आय और अधिक रोजगार श्रम प्रधान अथवा मध्यम स्थिति में यदि पूंजी प्रधान कार्यों को हाथ में ले लिया जाए, दिए जा सकते हैं।

निम्नांकित तालिका 'डवलपमैंट रीकंसीडर्ड' नामक पुस्तक से ली गई है। इस पुस्तक के लेखक एडगर ओविंस और रॉबर्ट शॉ हैं और यह पुस्तक लैनिंगटन बुक्स, डी० सी० हीथ कंपनी, मैसाचुसैत्स द्वारा 1972 में प्रकाशित की गई है। इस तालिका में यह दिखाया गया है कि ताइवान में छोटे संयंत्रों में लगाए गए प्रत्येक अतिरिक्त डालर ने दुगुना उत्पादन दिया है जबकि बड़े संयंत्रों में एक अतिरिक्त डालर के निवेश से उत्पादन नहीं हुआ है :

तालिका 143

1961 में ताइवान में कारखाने के आकार के अनुसार
बढ़ते हुए उत्पादन की निवेश लागत और
आय में श्रमिक का भाग

निवेश की राशि द्वारा उद्योग का आकार	डालर 1.00 के हिसाब से बढ़ते हुए उत्पादन की निवेश लागत	डालर 1.00 के हिसाब से बढ़ते हुए उत्पादन की निवेश लागत
2500 डालर से कम	1.97	74 सैंट
2500 डालर से 25000 डालर	2.52	72 सैंट
25000 डालर से 25000 डालर	3.26	50 सैंट
250000 डालर से 26 लाख डालर	3.66	39 सैंट
25 लाख डालर से अधिक	4.46	31 सैंट

स्रोत : एच० एस० आई० ई० एच० और एल० ई० ई० : ताइवान में कृषि विकास।

2. 'एशियन ड्रामा', पृष्ठ 1223.

वास्तव में भारत और ताइवान में नहीं बल्कि पाकिस्तान, इंडोनेशिया, मिस्र, चिली, मैक्सिको कोलंबिया, घाना और इथोपिया में किए गए अध्ययनों से भी पता लगता है कि आर्थिक उद्यम की छोटी इकाइयों के कई प्रकार उत्पादन-कारकों का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग करते हैं जबकि बड़े पैमाने की इकाइयां ऐसा नहीं कर पातीं और यह उपयोग विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में ही कम से कम किया जाता है।

ताइवान ने स्वयं भी यथासंभव गांव और छोटे-छोटे नगरों में अधिकाधिक विकास की नीति को अपनाया है। इस शताब्दी के सातवें दशक के प्रारंभ में ताइवान के औद्योगिक रोजगार का केवल 34 प्रतिशत पूंजी और प्रादेशिक शहरों में था जबकि वहां कुल जनसंख्या का 22 प्रतिशत था। मोटे तौर पर तुलनीय परिस्थितियों में कोलंबिया अपने प्रादेशिक शहरों में अपने औद्योगिक रोजगार का 75 प्रतिशत था।

स्विटजरलैंड जो यूरोप का सर्वोत्तम विकसित दूसरा देश (प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद के रूप में) है। इस देश के 35 प्रतिशत लोग बड़े नगरों में रहते हैं। गांवों में उद्योग एकीकृत किए गए हैं और अब वहां उच्च गुणवत्ता की वस्तुओं का निर्माण होता है जो स्तर की अर्थव्यवस्थाओं पर आधारित न होकर कार्यकुशलता की अर्थव्यवस्थाओं पर आधारित है और शायद अधिक नौकरशाही के पर्यवेक्षण के बिना उत्पादन की अर्थव्यवस्था पर आधारित होगी।

यह स्पष्ट है कि कुल मिलाकर उद्योग के विनिर्माण में 'स्तर की अर्थव्यवस्थाएं' नहीं हैं—जहां तक पूंजी-निवेश की प्रति इकाई के उत्पादन का संबंध है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वास्तविक जीवन में ऐसा कोई कानून या नियम नहीं है जिससे यह विदित हो कि किसी भी औद्योगिक उद्यम में पूंजी के एकत्रीकरण के साथ-साथ उत्पादन-पूंजी अनुपात की वृद्धि होती है और विज्ञान में भी इसके लिए कोई आधार नहीं है। यंत्रीकरण और स्वचालन श्रमिक की उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रारंभ किए गए थे अर्थात् उत्पादन-कामगार का अनुपात बढ़ाया गया था और उत्पादन-पूंजी के अनुपात पर इसका प्रभाव धनात्मक भी हो सकता है और यह प्रभाव ऋणात्मक भी हो सकता है। प्रौद्योगिकी उन्नति में उत्पादन की मात्रा को प्रभावित किए बिना ही पूंजी के अतिरिक्त निवेश की लागत पर श्रम-प्रधान उद्यमों को कम करने में सहायता देती है। हम अपनी पाठ्य-पुस्तकों में स्तर की अर्थव्यवस्थाओं के जो साक्ष्य देखते हैं उनका आधार मुख्यतया अधिक उन्नत औद्योगिकीकृत देशों के अनुभव पर आधारित है। भारत में अधिकांश उद्योगों, जो स्टील जैसी पूंजी-वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, में स्तर की अर्थव्यवस्थाएं स्पष्ट अथवा विशेष हैं अर्थात् यदि बड़े संयंत्र और उनका उत्पादन अधिक है तो प्रति यूनिट अपेक्षाकृत कम लागत होगी। कुल मिलाकर उपभोक्ता उद्योगों में वस्तुतः यह विद्यमान नहीं होती।

इस प्रकार उद्योग की स्थिति कुछ न कुछ कृषि के समान ही है। काफी समय से शास्त्रों और सामाजिक अर्थशास्त्रों दोनों में ही इसका उल्लेख हुआ है और यह

कहा गया है कि बड़े उद्योग की अपेक्षा छोटे उद्योग अपेक्षाकृत कम कार्यकुशल होते हैं और शनैः-शनैः छोटे उद्योग लुप्त होते जाते हैं। अब हम इस बात को सीख रहे हैं कि छोटे उद्योगों में कई प्रकार की कार्यकुशलता अधिक होती हैं अथवा बड़े उद्योगों की अपेक्षा वे अधिक कार्यकुशल होते हैं। इनके उत्पादन को बढ़ाने के लिए आवश्यक पूंजी की राशि कम होती है। निवेश के प्रति रुपए के हिसाब से बनाए गए रोजगारों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती है। लाभ की दरें और इस प्रकार अतिरिक्त निवेश के लिए उपलब्ध राशि अधिक होती है या अपेक्षाकृत अधिक होती है। इस तथ्य के कारण कि कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन देते हैं और निवेश की प्रति इकाई के हिसाब से अधिक रोजगार देते हैं जबकि इसकी तुलना में बड़े उद्योगों में ऐसा नहीं हो पाता। इस संबंध में उनके समाप्त हो जाने की भविष्यवाणी को झुठला दिया गया है; और इसी प्रकार यही बात छोटे किसानों के संबंध में भी कही जा सकती है।

वास्तव में उद्योग के क्षेत्र में बड़ी यूनिटों की कार्यकुशलता के बारे में पश्चिमी देशों में भी संदेह बढ़ने लगे हैं। इस संबंध में कथाकथित अमरीकी अस्थायी, राष्ट्रीय आर्थिक समिति ने 1941 में द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व पूरी जांच की। इसके विस्तृत अध्ययनों से यह पता चलता है कि अनेक उद्योगों में से कोई भी बड़ा उद्योग ऐसा नहीं था जो अपनी उत्पादकता में सबसे अधिक कार्यकुशल हो। इसके अलावा व्यावहारिक रूप से इस शताब्दी के चौथे दशक में मंदी से यह पता लगा है कि छोटी विनिर्माण इकाइयों को तत्परता से बदलती हुई परिस्थितियों और बाजारों के अनुरूप ढालने में कोई कठिनाई नहीं हुई है।

सारांश रूप में यह कह सकते हैं कि भारत में मिलों और कारखानों का आधुनिक अर्थ में औद्योगिकीकरण 19वीं शताब्दी के मध्य से प्रारंभ हुआ, कारखानों, स्थापनाओं (अर्थात् सभी कारखाने, चाहे वे बड़े हों या छोटे, फैक्टरी एक्ट, 1948 द्वारा शासित थे) के अंशदान 1948-49 में भारत संघ के कुल उत्पादन का केवल 6.3 प्रतिशत रहा जबकि 'छोटे उद्यमों' अथवा ऐसे उद्यम जो 'कारखाने' की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आते, 10.0 प्रतिशत रहा। बड़े पैमाने के उद्योगों में अनुपात से कहीं अलग हटकर भारी निवेश के 20 वर्षों के बाद पहले प्रकार के आंकड़े 1968-69 में केवल 10.7 प्रतिशत तक ही बढ़ सके जबकि इसी अवधि के दौरान बाद के आंकड़ों में 7.0 प्रतिशत की कमी हुई। इस प्रकार निवल राष्ट्रीय उत्पाद में विनिर्मित उद्योगों का कुल योगदान 1948-49 में 10.3 प्रतिशत से बढ़कर 1968-69 में 17.7 प्रतिशत हो गया। 1977-78 में निवल घरेलू उत्पाद में विनिर्मित उद्योग द्वारा किए जाने वाला अनुपात इस देश में केवल 15.6 प्रतिशत रहा। रजिस्टर्ड उद्यमों द्वारा 9.7 प्रतिशत और रजिस्टर्ड न किए गए उद्यमों द्वारा 5.9 प्रतिशत। भारत में विशेष रूप से औद्योगिकीकरण हुआ है और भारत विश्व के औद्योगिकीकृत देशों में अपना 8वां व 9वां स्थान बना चुका है। इस स्थिति के बावजूद भारत में रहन-सहन का स्तर एशिया में सबसे निम्न है : भारत के 35 करोड़ से अधिक लोग भुखमरी सीमा-रेखा पर जीवित हैं।

महात्मा गांधी ने हमारे लोगों की बेरोजगारी और अल्प रोजगारी दूर करने पर बहुत जोर दिया और इस विषय पर उन्होंने बार-बार अपने प्रवचन दिए। उनके मतानुसार दस्तकारियां अथवा कुटीर उद्योग ही हमारे करोड़ों लोगों को रोजगार दे सकते हैं जो आज बेरोजगार हैं अथवा अल्प रोजगार-प्राप्त हैं।

उन्होंने यह अनुभव किया था कि बड़े पैमाने के यंत्रीकृत उद्योग इस समस्या का निराकरण नहीं कर सकते इसीलिए गांधीजी ने दस्तकारियों या कुटीर उद्योगों का जोरदार समर्थन किया था। उनके लिए चर्खा सभी श्रम-प्रधान उद्यमों का प्रतीक था :

> "आम जनता का रोग धन का अधिक अभाव नहीं है बल्कि कार्य का अधिक अभाव है। श्रम ही धन है। कोई भी व्यक्ति जो लाखों लोगों को उनके घरों में प्रतिष्ठित श्रम की व्यवस्था कर सकता है, वही व्यक्ति उन्हें अन्न और कपड़ा भी उपलब्ध कराता है अथवा यह कहिए कि धन पैदा कराता है। 'चर्खा' इसी प्रकार के श्रम की व्यवस्था करता है इसलिए जब तक इसके स्थान पर अपेक्षाकृत कोई अन्य आधार नहीं मिलेगा तब तक 'चर्खा' ही इस क्षेत्र में अपना अधिक प्रभाव रखेगा।"[3]

"भारत को जीवित रहना है अथवा उसके करोड़ों लोगों को जीवित रहना है। विश्व में ऐसा अन्य कोई देश नहीं है जहां करोड़ों लोगों को केवल आंशिक रोजगार मिलता हो और जहां ग्रामीण सभ्यता का आधिपत्य होते हुए भी प्रति व्यक्ति को केवल 2 एकड़ की जोतें मिली हों। देश की कपड़े की आवश्यकताओं के अनुसार कपड़े का विनिर्माण—चाहे वह भाप या बिजली से चलाई जाने वाली मशीनों या चर्खे की मानवीय शक्ति के अलावा किसी अन्य साधन से क्यों न हुआ हो, इन सबसे हमारे लोगों में बेरोजगारी अधिक बढ़ी है इसलिए औद्योगिकीकृत भारत से कई लाख व्यक्तियों के रोजगार समाप्त हो जाएंगे।"[4]

उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि "करोड़ों व्यक्ति बेकार हैं। ऐसी स्थिति में भारत बड़ी मशीनों को स्वीकार नहीं कर सकता जो मजदूरों को और अधिक विस्थापित कर देंगी। इन मशीनों से उनकी बेरोजगारी बढ़ेगी और वे नष्ट हो जाएंगे। हमारी समस्या यह है कि हम इन करोड़ों लोगों के लिए रोजगार तलाश करें—यह नहीं कि उनके श्रम को किस प्रकार बचाएं। उनमें पहले ही लगातार बेरोजगारी के कारण सुस्ती या उदासीनता आ गई है जो बहुत ही निराशाजनक है।"[5]

यह स्वीकार कर लिया जाय कि ग्रामीण उद्योगों को ग्रामीण विकास कार्यक्रम में केंद्रीय स्थान प्राप्त करने का अधिकार था, इस संबंध में प्रथम पंचवर्षीय योजना

3. देखिए 'यंग इंडिया', 18 जून, 1925.
4. देखिए 'हरिजन', 22 जून, 1935.
5. वही, 2 जनवरी, 1937.

(1951-56) में सही तौर पर कहा गया है : "लाभदायक रोजगार के लिए ह्रासमान अवसर ग्रामीण जनसंख्या के कतिपय भागों के रहन-सहन के स्तर में कमी दिखाते हैं। बड़े पैमाने के उद्योगों के उत्पाद कारीगरों के कई वर्गों के लिए बाजार को बराबर सीमित करते रहे हैं। अब उनके व्यवसाय केवल आंशिक रोजगार प्रदान करते हैं जिससे वे कृषि कामगारों के वर्ग में काम करने लगते हैं। ग्रामीण क्षेत्रक से बाहर विकास उतनी तीव्रता से नहीं हुआ है जो देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता को पूरा कर सके। इसलिए ग्रामीण उद्योगों का विकास राज्य के कार्य का ऐसा भाग होना चाहिए जैसा कि कृषि के उत्पादन की वृद्धि मानी जाती है। वस्तुतः, एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि कृषि उत्पादन में वृद्धि उपलब्ध मानव-शक्ति की पूर्णरूपेण उपयोगिता की पूर्व कल्पना की जाती है और अन्य व्यवसायों के लिए अतिरिक्त कामगारों को छोड़ा जा सकता है..."

लेकिन दूसरी योजना के प्रारंभ होने पर सभी कुछ बदल गया। इस योजना में ग्रामीण अथवा कुटीर उद्योगों का कोई उल्लेख नहीं था। वास्तव में, जैसे-जैसे समय बीतता गया, ये शब्द शासक पार्टी की विकास संबंधी भ्रामक शब्दावली से बिल्कुल ही लुप्त होते गए। यह शासक पार्टी अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस है।

भारी आय असमानताओं का परिहार और लोकतंत्र को प्रोत्साहन

श्रम प्रधान उद्योग न केवल अधिक उत्पादन करते हैं और न केवल अधिक व्यक्तियों को काम पर लगाते हैं बल्कि हमारे तीसरे उद्देश्य की भी पूर्ति करते हैं। यह तीसरा उद्देश्य समानतावादी समाज की स्थापना में सहायता करना है। ऐसे समानतावादी समाज में आर्थिक शक्ति कुछ ही लोगों के हाथों में केंद्रित नहीं होती और आयु के अंतर अधिक नहीं होते हैं। एक व्यक्ति की आय और दूसरे व्यक्ति की आय की कुल असमानताओं का प्रश्न उस कुटीर उद्योग के मामले में बिलकुल भी नहीं उठता जहां कामगार और उसका परिवार स्वयं उद्यम के मालिक होते हैं। यह स्थिति छोटे पैमाने के उद्योग में भी नहीं उठती जहां कामगारों की संख्या कानून द्वारा सीमित होती है और उद्यमकर्ता के लाभ अधिक नहीं होते।

एक ओर उच्च पूंजी प्रधान उपक्रम अधिकांश मजदूरों को बेरोजगार बना देता है अथवा उन्हें बेरोजगार छोड़ देता है; दूसरी ओर कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति संकेंद्रित हो जाती है। ऐसी सम्पत्ति संकेंद्रित हो जाती है जो अन्यथा अनेक छोटे-छोटे आदमियों या कामगारों को मजदूरी या आमदनी के रूप में मिल सकती थी और यह सम्पत्ति मिल-मालिकों की जेब में लाभ के रूप में भर जाती है (और काम पर लगाए गए कुछ ही कामगारों को उच्च मजदूरी के रूप में मिला करती है) इस प्रकार इससे आय के मध्य अंतर बढ़ता जाता है। यह स्थिति विशेषकर हमारे देश भारत में विद्यमान है जहां श्रमिक अधिक ही नहीं हैं बल्कि बेकार भी हैं। यही कारण

है कि राजनीतिक स्वतंत्रता की 30 वर्षों से अधिक अवधि बीत जाने पर भी भारत की आय की असमानताएं न केवल अधिक हैं बल्कि यह असमानताएं अधिकाधिक होती जा रही हैं जबकि कारखानों की संख्या में तिगुनी वृद्धि हो गई है। रहन-सहन के स्तर में कुछ या बिल्कुल ही अंतर नहीं आया है और जनता का उपभोक्ता स्तर देखने योग्य है।

राष्ट्रीय आय की संवृद्धि के आंकड़े इस स्पष्ट तथ्य से ओझल नहीं कर सकते कि सम्पत्ति के क्षेत्रक अथवा वे लोग जो जीवन की अच्छी वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं, बहुत ही कम हैं और वस्तुतः गरीबी, निराश्रिता और गंदगी की पर्याप्त मात्रा से धुंधले हो चुके हैं। अन्य कई देशों के समान भारत के लिए भी विश्व बैंक रिपोर्ट, 1972 में कहा गया है, "सारांश में कुल आंकड़े आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की अंतर्निहित गंभीरता को छिपा लेते हैं। ये समस्याएं अत्यंत विषम आय-वितरण, बेरोजगारी के अत्यधिक स्तर, शिशु-मृत्यु की ऊंची दरें, साक्षरता की अल्प दरें, गंभीर कुपोषण और सर्वत्र व्यापी कुस्वास्थ्य जैसी विशेष प्रकार की हैं।" इसलिए बढ़ता हुआ उत्पादन ही केवल सुखी समाज के लिए सूचकांक नहीं है। राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण का तरीका समान रूप से सशक्त ही माना जाएगा—चाहे उसे अधिक सशक्त न माना जाए।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद अथवा राष्ट्रीय आय का वितरण उसके उत्पादन के तरीके से विशेषतया प्रभावित होता है। जवाहरलाल नेहरू और आज के कांग्रेस नेताओं ने यह इच्छा की है कि यदि सकल राष्ट्रीय उत्पाद कुछ ही लोगों द्वारा पैदा किया जाता है तो इसका उपभोग भी कुछ ही लोगों के द्वारा किया जाएगा और इस प्रकार धनी और गरीब के बीच में अंतर बढ़ता ही जाएगा। गांधीजी ने यह तर्क दिया था कि यदि सकल राष्ट्रीय उत्पाद कई लोगों द्वारा पैदा किया जाता है तो सामान्य रूप से जनता आर्थिक संवृद्धि के राष्ट्रीय लाभों में भागीदार होगी। इस प्रकार डॉ० शुमेकर ने कहा कि, "प्रौद्योगिकी को कुछ न होकर केवल 'तटस्थ' होना चाहिए।" यह सबसे सशक्त राजनीतिक बल है कि समाज को अपनी ही छवि में ढाला जाय और अपनी छवि के अनुकूल बनाया जाय। पश्चिमी पूंजीवाद से कहीं अलग गत 100 वर्षों की अवधि में प्रौद्योगिकियों का उदय हुआ था जो अब सभी समाजों को स्वरूप देने के लिए सबसे अधिक शक्तिशाली बल है। यह सभी समाज पश्चिमी पूंजीवाद में ढलने की स्थिति को स्वीकार कर रहे हैं— चाहे यह अपनी निजी पूंजी अथवा अपनी सरकारी पूंजी के रूप में ही क्यों न हो। यह सब गांधीजी की उस विचारधारा के विपरीत हैं जिसके अंतर्गत व्यापक रूप से सभी लोगों की भलाई मानी गई थी। वे कुछ ही हाथों में शक्ति संकेंद्रित करते हैं और पहले ही से धनी अथवा शक्तिशाली बहुराष्ट्रिक निगमों, विभिन्न प्रकार के शक्तिशाली उद्योगपतियों, नौकरशाही अधिकारियों, कमिसारों और इसी प्रकार के अन्य लोगों के लिए सृजनात्मकता और उत्पादन के विशेषाधिकार को सुरक्षित करते हैं।

इस पुस्तक का लेखक बिल्कुल ही मार्क्सवादी नहीं है लेकिन पूर्णतया मार्क्स के

साथ चलने को तैयार है जब एक शताब्दी पूर्व मार्क्स ने अपने आर्थिक अध्ययनों को 'प्रथम छोटी' पुस्तक में इस प्रकार लिखा था :

> "वितरण की संरचना पूर्णतया उत्पादन की संरचना से निर्धारित की जाती है। वितरण स्वयं उत्पादन का उत्पाद है, यह केवल सामग्री के संबंध में ही नहीं, क्योंकि उत्पादन के परिणाम बितरित किए जा सकते हैं, अपितु स्वरूप के संबंध में भी हैं क्योंकि उत्पादन में व्यक्ति की सहभागिता का विशेष तरीका वितरण के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण करता है। यह स्वरूप ऐसा है जिसमें वे वितरण में भागीदार होते हैं।"

शायद ही ऐसा कोई प्रस्ताव हो जिसमें गरीबों को वृद्धि के लाभों के अधिकांश अनुपात के लिए चुनौती दी गई हो। इस प्रकार का कोई प्रस्ताव तैयार नहीं किया गया है और इसके लिए संस्थागत तरीके और नियंत्रण भारत में नहीं बनाए गए हैं फिर भी आर्थिक शक्तियां इतनी अधिक कठोर हैं कि अनेकों लोग घोर दीनता में रहते हुए कम नहीं हो पाए हैं। अभी तक 35 करोड़ लोगों से अधिक लोग ऐसे हैं जो ऐसे आहार पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं जिसमें कैलोरियों का भी अभाव है।

गरीब और अल्पविकसित चिली, उरुगुए और श्रीलंका का अनुभव भी इसी प्रकार का है। वहां भी न तो अधिक आय है अथवा न अधिक सम्पत्ति है जिसका वितरण किया जाए। इन देशों में सम्पत्ति के पुर्नवितरण का प्रयोग किया गया परंतु वास्तव में यह प्रयोग गरीबी का पुर्नवितरण ही था। इससे कतिपय उपयोगी कार्यक्रम पैदा हुए लेकिन सकल राष्ट्रीय उत्पाद के लिए इससे बहुत कम सहयोग मिला। इससे भी कम भुगतानों के शेष के लिए रहा और सबसे कम राजनीतिक स्थिरता के लिए रहा। राजनीतिक लोकतंत्र का आर्थिक साम्यवाद के साथ गठबंधन का प्रयत्न विशेषकर गरीब देशों में असफल सिद्ध हुआ है। अमरीका और इंगलैंड जैसे धनी देश ही हैं जहां निजी सम्पत्ति को बेरोजगार और अन्य कमज़ोर वर्ग के लोगों में सामाजिक और आर्थिक लाभों के रूप में पुर्नवितरण द्वारा सामाजिक न्याय प्राप्त करने का प्रयोग सफल सिद्ध हुआ है या कुछ-न-कुछ सफल है।

1955 में अर्थात् जब दूसरी पंचवर्षीय योजना को अंतिम रूप दिया जा रहा था, कई भारतीय अर्थशास्त्री विशेषकर सी० एन० वकील और पी० आर० ब्रह्मानंद ने यह तर्क दिया था कि हमारी दूसरी योजना में निहित भारतीय आर्थिक संवृद्धि का विशेष मॉडल भारत के लोगों की निंदा करेगा और अनावश्यक सुदूरगामी अभाव और अनावश्यक अधिक बेरोजगारी बढ़ा देगा और इन्हीं गलत प्राथमिकताओं के माध्यम से गरीबों को आर्थिक विकास और उसमें सन्निहित विचार शक्ति जैसे दोनों लाभों से वंचित करा देगा। इन अर्थशास्त्रियों ने यह विचार किया कि बाजार योग्य कृषि-बेशी, खाद्यान्न और कच्चे माल, भारत में मौजूद नहीं थे क्योंकि कुल मिलकर उत्पादकता कम रही। ऐसी परिस्थितियों में 'भारी उद्योगों का अविवेकी प्रसार' भयानक था और पहली पंचवर्षीय योजना में कृषि पर ही बल दिया जाना चाहिए था। यह

आवश्यक था कि समस्त जनसंख्या की आधारभूत आवश्यकताओं को संतुष्ट कर दिया जाए, इससे पूर्व कि किसी प्रकार की बहुतायत का आनंद कतिपय अधिक विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति ही उठा सकें।

योजना आयोग और राजनीतिक नेताओं को देश ने पूरे विश्वास के साथ अपना भाग्य सौंप दिया था फिर भी यह मूलभूत प्रश्न पूछने में कोई रुकावट नहीं हुई : पंचवर्षीय योजनाओं को किन लोगों के लाभों के लिए बनाया गया है। क्या इस देश के कुल संसाधन ऐसी जीवन-शैली का समर्थन करेंगे जिसका अब उच्च-मध्यम वर्ग के लोग आनंद उठा रहे हैं जो हमारी जनसंख्या का बहुत कम भाग है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संसाधनों और भारत की जनसंख्या की आवश्यकताओं के प्रसंग में यह कहां तक संभव है कि पश्चिमी ढंग के औद्योगिकीकरण को स्वीकार किया जाय? सरकार का यह कर्तव्य था कि जीवन के राष्ट्रीय निम्नतर स्तर को तैयार किया जाए और उसे बनाए रखा जाय। इससे पूर्व कि वह निजी टेलीविज़न सेट, निजी मोटरगाड़ियां और 'फाइव स्टार' होटलों की स्थापना जैसाकि पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) में सोचा गया है वोद्का तैयार करने के लिए कारखानों के निर्माण पर विचार कर सके।

महात्मा गांधी ने 1939 में राजकुमारी अमृतकौर को एक पत्र लिखा। उस पत्र में उन्होंने यह कहा : "जवाहरलाल की योजनाएं निश्चय ही बेकार जाएंगी लेकिन वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसे उस समय तक किसी बात से संतोष नहीं हो सकता जब तक कि वह बात बड़ी न हो।"

इस बात पर फिर जोर देना चाहिए : आजकल ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है अर्थात् एकाधिकार विद्यमान है और असमानताएं बढ़ गई हैं, यह सब 1947 से अपनाई गई सरकारी नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ है। इस आदर्श ने आर्थिक प्रगति में गतिरोध उत्पन्न किया है और विरोधाभास यह है कि उन सभी ताकतों की सहायता की गई है जिनका कि इसने देखते हुए विरोध किया था। असमानता जानबूझकर इसलिए अथवा इस आशा से पैदा की गई है कि बड़ी अथवा पूंजी-प्रधान इकाइयों से उपलब्ध बेशी आय को सरलता से परिचालित किया जाय और उसे अर्थव्यवस्था में पुनः लौटा दिया जाय और शनैः-शनैः एक ऐसा समय आएगा कि इनके द्वारा विस्थापित (अथवा काम पर न लगाए गए) व्यक्ति रोजगार में लगा लिए जाएंगे। यह आशा कार्यान्वित नहीं की गई और जैसा कि प्रोफेसर डडले सियर्स ने कहा है कि यह आशा कभी भी फलीभूत नहीं होगी। विशेषकर भारत में अर्थव्यवस्था की इस विद्रूपता और इसके फलस्वरूप दारुण दुःख का कोई कारण नहीं है। भारत को गांधीजी की शिक्षाओं का लाभ बहुत समय तक प्राप्त होता रहा है जो अन्य देशों को नहीं मिला है। संवृद्धि और वितरण, सकल राष्ट्रीय उत्पाद और सामाजिक न्याय एक-दूसरे के शत्रु नहीं हैं। दोनों ही एक साथ रह सकते हैं।

पंडित नेहरू ने अपनी इस भूल का अहसास किया लेकिन ऐसा करने में बहुत

देर हो चुकी थी। उन्होंने 11 दिसम्बर, 1963 में लोकसभा में यह स्वीकार किया कि, योजना इस प्रकार नहीं बनानी चाहिए कि कुछ ही हाथों में सम्पत्ति अधिकाधिक संकेंद्रित होती जाय लेकिन सरकार और योजना आयोग दोनों ही इन संकेंद्रित राशियों को रोकने के लिए प्रभावकारी कदम उठाने में असफल रहे हैं।" उन्होंने यह आश्वासन दिया कि वह भविष्य में अधिक प्रभावकारी ढंग से ऐसा कर सकेंगे।

अब, कोई व्यक्ति इसके लिए क्या कहेगा? भारत का दुर्भाग्य ही था। शताब्दियों की गुलामी के बाद राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने पर देश को ऐसा नेता मिला था जो कारुणिक रूप से विश्वसनीय और भावाविष्ट होकर भी जनता का प्रिय नेता था। इस नेता को अपने देश की समस्याओं की स्पष्ट दूरदृष्टि नहीं मिली थी और वह हर समय हकलाता रहा। कृषि और उद्योग तथा बड़े राज्य अथवा सहकारी फार्म बनाम वैयक्तिक किसान फार्म की प्राथमिकता के मामले में स्थिति ठीक नहीं रही; इसी प्रकार छोटे श्रम प्रधान उद्यम बनाम बड़े पूंजी प्रधान उपक्रमों के मामले में भी स्थिति ठीक नहीं रही। आज जो कुछ ठीक रहा, वही कल विपरीत हो गया। (जब देश की समस्याएं इसी बीच अधिक जटिल होती गईं।)

नेहरू ने अपनी भूल को बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया था और तीस वर्षों के कटु अनुभव के बावजूद औद्योगिक उत्पादन के तरीके में परिवर्तन नहीं आया है।

अब न केवल बड़े-बड़े कारखाने बढ़ रहे हैं बल्कि वर्तमान बड़े-बड़े कारखाने अधिकाधिक विस्तृत हो रहे हैं। 25 अप्रैल, 1975 को राज्य सभा में औद्योगिक विकास के भूतपूर्व मंत्री श्री सी० सुब्रह्मण्यम सदस्यों के साथ इस बात पर सहमत थे कि बड़े बड़े हाउस अधिक बड़े हो गए हैं, कुछ मध्यम प्रकार के हाउस बड़े हाउस बन गए हैं और कई विशाल हाउस और भी अधिक विकसित हो गए हैं। उन्होंने बताया कि यह मुख्यतया कतिपय कारकों के कारण हुआ जो बड़ी यूनिटों के पक्ष में थे और कुछ ऐसा था जो औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में निहित था। भारी निवेश, जटिल प्रौद्योगिकी और लम्बी सगर्भता की आवश्यकता क्रोड़ उद्योगों के निर्माण के लिए बड़े-बड़े हाउसों के पक्ष में रही।

जहां तक चौथे उद्देश्य अर्थात् लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुकरण तथा लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के प्रोत्साहन का संबंध है, अकेला व्यक्ति ही होता है जो लोकतंत्र का आधार बनाता है। वही व्यक्ति है जो एक मतदाता की हैसियत से उन व्यक्तियों का चुनाव करता है जो अपने लिए ग्राम पंचायत, राज्य सरकार अथवा संघीय सरकार चलायेगा। इसलिए उसे बिना किन्हीं अवरोधों अथवा भय से घबराए बिना अपने उत्तरदायित्व के रूप में निर्णय करने के लिए योग्य बनना होगा अथवा निर्णय लेगा।

स्पष्टतया, एक व्यक्ति स्वतंत्र नहीं हो सकता अथवा वह पहल शक्ति का विकास नहीं कर सकता यदि उसका कार्य किसी बड़ी आर्थिक यूनिट और एक बड़ी फर्म (अथवा एक बड़े फार्म) में होता है जहां हजारों लोग केन्द्रीय एकीकृत प्रबंध के अन्तर्गत

काम करते हैं। किसी भी उपक्रम का जितना ही बड़ा आकार होगा, सदस्यों या कामगारों की उतनी ही कम सक्रिय सहभागिता उस उपक्रम के कार्यों में होगी और उनके सीधे सम्पर्क में आने के लिए प्रबंधकों को कम अवसर मिलेंगे। इसका प्रभाव संगठन की समस्याओं के बारे में सदस्यों की समझ पर होगा और कुछ ही व्यक्तियों द्वारा किए गए निर्णयों का भी खतरा होगा जो उसके वास्तविक हित में नहीं होंगे। साधारणतया अधिकांश लोगों के पास बहुत कम समय है और उनका बहुत कम इरादा है कि किसी बड़ी संस्था के सार्वजनिक कार्यों के बारे में बुद्धिसम्मत निर्णयों के लिए आवश्यक तथ्यों पर विचार करें और उन्हें सीखें। वे किसी ऐसे अन्य व्यक्ति के अनुसरण को प्राथमिकता देते हैं जो विचार करने के लिए इच्छुक है अथवा उनके लिए विचार करने की स्थिति में है इसलिए बड़े-बड़े मामलों में लोग कुछ ही प्रतिनिधियों के हाथों में निर्णय सौंप देते हैं अथवा शीर्ष स्थान के कुछ ही लोगों को निर्णय करने की शक्ति देते हैं जिनके हाथों में अन्ततोगत्वा शक्ति केन्द्रित हो जाती है, चाहे कोई फर्म (या फार्म) सरकार या निजी व्यक्ति के स्वामित्व में हो इससे कोई अन्तर नहीं होता। किसी बड़ी यूनिट के मैनेजर का मनोविज्ञान, चाहे उस यूनिट को कुछ भी क्यों न पुकारा जाए, दोनों ही मामलों में शक्ति के नशे में समान रूप से चूर करने वाला होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि किसी व्यक्ति की राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता एक दूसरे पर निर्भर है : कोई व्यक्ति या उसके स्थान पर कोई समाज किसी एक के बिना बहुत समय तक आनंद नहीं उठा सकता। लोकतंत्र सही अर्थों में केवल उसी स्थिति में फले-फूलेगा और समृद्ध होगा जहां रोटी कमाने वाला व्यक्ति अपने उत्पादन के औजारों और साधनों का मालिक होगा। ऐसी स्थिति में न तो वह किसी व्यक्ति, दल अथवा व्यक्तियों के एसोसिएशन का आदेश लेगा अथवा न हिसाब देगा। वास्तव में वह अपने सिवाय बाहर किसी भी प्राधिकारी के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा। वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है और अपने चरित्र को सर्वोत्तम रूप से या बहुत बुरे तरीके से, जैसे भी उसकी इच्छा हो बना-बिगाड़ सकता है। महात्मा गांधी 'चर्खा' के माध्यम से हमें यही सिखाना चाहते थे। 'चर्खा' सभी श्रम प्रधान उद्यमों का प्रतीक है। मानवीय समुदायों की वृद्धि के विकेंद्रीकरण और उद्योग के विकेंद्रीकरण के बारे में उनका यह विश्वास था कि इससे लोकतंत्र को निश्चय ही प्रोत्साहन मिलेगा। यदि किसी भी प्रकार का संकेंद्रीकरण होता है तो अकेला व्यक्ति निर्णय करने का अर्थ खो बैंठता है।

वैयक्तिक स्वतंत्रता की आवश्यकता के बारे में महात्मा गांधी ने 1 फरवरी 1942 की 'हरिजन' पत्रिका में इस प्रकार लिखा है :

> "यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता खो देता है तो निश्चय ही सभी कुछ खो जाता है। यदि किसी व्यक्ति को नहीं गिना जाता तो इस समाज में रह ही क्या जाता है? वैयक्तिक स्वतंत्रता ही मनुष्य को स्वेच्छा से समाज की सेवा करने के लिए पूर्णतया समर्पित करा सकती है। यदि उससे यह छीन ली जाती है तो वह स्वचालित यंत्र बन जाता है और समाज का विनाश हो जाता है।

कोई भी समाज संभवतया वैयक्तिक स्वतंत्रता के निषेध करने पर निर्मित नहीं किया जा सकता। यह व्यक्ति की अपनी प्रकृति के विरुद्ध है।"

भारी उद्योग अर्थात् पूंजी प्रधान उपक्रम का संदेश असंख्य लोगों की वृद्धि का संदेश है जो केंद्रीय सरकार द्वारा सीधे ही नियंत्रित होते हैं जब तक कि वे इतनी बड़ी बेवकूफी बन जाते हैं कि एक आदमी अमरीका में दो हजार लाख टन से अधिक और रूस में दो हजार पांच सौ लाख की मजदूरियों को स्थिर कर देते हैं। हम लोग भी भारत में इसी प्रकार की स्थिति का सामना कर रहे हैं।

अधिकांश छोटी यूनिटों (छोटे पारिवारिक फार्म) और छोटे उद्योग या दस्तकारियों, जिनमें मुख्य रूप से छोटे उद्योग या दस्तकारियां हैं, की अर्थव्यवस्था ही ऐसी होती है जिससे लोकतंत्र समृद्ध होता है और एक आदमी तथा दूसरे आदमी की प्रतिष्ठा में चमचमाती हुई कमियां भी नहीं होती हैं, एक आदमी अपने जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए दूसरे आदमी से अधिकांशतया स्वतंत्र रहता है और अलग-अलग व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर आता है। मोटे तौर पर निजी आर्थिक शक्ति का वितरण ही कुटीर उद्योगों और कम पूंजी प्रधानता के अन्य विकेंद्रित उद्यमों में सुनिश्चित किया जाता है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था काम में आने वाली पहल शक्ति और निर्णय करने की संख्या बढ़ा देगी तथा उन्हें तितर-बितर कर देगी और इस प्रकार देश में लोकतंत्र की जड़ें मजबूत करेगी।

कुटीर और अन्य विकेंद्रित यूनिटों को यथासंभव संघीय, सहकारिता आधार पर बनाना चाहिए। इससे जहां कहीं भी होता है, वहां इससे कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों का निर्माण, संगठन और सुधार ही नहीं होता अपितु इस प्रणाली का एक अंग भी बन जाता है जिसमें इनसे संबंधित वर्कशाप और छोटे कारखाने सम्मिलित हैं। इस प्रणाली को कृषि के साथ एकीकृत होना चाहिए और ग्रामीण समुदायों को अधिकतम रोजगार देना चाहिए। यह संतुलित कृषि-औद्योगिक विकास ही है जो हमारा उद्देश्य है।

श्रम-प्रधान विकेन्द्रित उद्योग के अन्य लाभ

हाथ से चलाए जाने वाले उद्योग चाहे वे कुटीर अथवा छोटे पैमाने के उद्योग हों, तुलनात्मक रूप से बहुत कम अथवा नगण्य लागत में सुव्यवस्थित वृद्धि के होंगे। छोटे नगरों में स्थित बिजली से चलने वाले छोटे पैमाने के उद्योग जो देहातों में स्थित होते हैं, भंडारन, विपणन और परिवहन के क्षेत्र में समा सकते हैं लेकिन अधिकांश भरे हुए नमूने के रूप में पारिवारिक उद्यम या दस्तकारियां शामिल की जायेंगी। इस संबंध में ऋण के बारे में कोई अधिक कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आज ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित बैंकों द्वारा अग्रिम रूप से दिए गए ऋण में से आधा भाग भी ग्रामीण अथवा अर्ध-ग्रामीण निवेश में नहीं लगाया जाता।

शहरों में अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी दी जाती है और वहां रहन-सहन की अच्छी सुविधाएं हैं—इस विश्वास से प्रलोभित होकर गांवों के लोग शहरों में एकत्र हो जाते

हैं। लेकिन इससे प्रतिभाओं के चयन करने में विपरीत प्रभाव पड़ता है—देहाती क्षेत्रों से अपेक्षाकृत अधिक प्रतिभावान व्यक्ति निकल आते हैं और अपेक्षाकृत कम प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति वही सब कुछ करने के लिए रह जाते हैं जो समुदाय के विकास के लिए कर सकते हैं। योजना बनाते-बनाते 30 वर्ष बीत जाने के बावजूद, तथाकथित कल्याण अथवा समाजवाद को उद्देश्य बनाते हुए भी गांव से विशेषतया आत्मनिर्भरता विदा ले चुकी है। यह स्थिति तभी वापस आ सकती है यदि शहरी क्षेत्रों को एक ही दिशा में जाने वाली मेधावी शक्ति पर प्रतिबंध लगा दिया जाय और इस पर तभी अवरोध हो सकेगा यदि कुटीर उद्योग अथवा दस्तकारियां और अन्य श्रम-प्रधान उद्योगों को पुनः उभारा जायेगा।

चूंकि ये उद्यम स्थानीय जीवन से अधिक बंधे हुए हैं अतः ये नगर और देहात के मध्य आवश्यक संतुलन को बनाए रख सकेंगे और देहाती क्षेत्रों से प्रतिभा-पलायन को रोक सकेंगे जिसके फलस्वरूप देहाती क्षेत्रों की स्वास्थ्य और संपत्ति दोनों का अपवहन होता है।

देहाती क्षेत्र में काम पर लगे कामगार पहले ही किसी न किसी प्रकार के घरों में रहते हैं, इस प्रकार सरकार को लाखों घरों के निर्माण के व्यय-भार से मुक्ति मिल जायेगी और इस प्रकार सरकार उन सभी मदों पर व्यय कर सकेगी जिनकी आज अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता है। इससे परिवहन का अनावश्यक व्यय भी कम होगा और वितरण की लागतें कम होंगी, इसके बदले में, देहाती समुदाय को अपेक्षाकृत कम कीमत में सुविधाएं उपलब्ध होंगी। किसी भी व्यक्ति के पालन-पोषण, आवासन, रोज-गार और उसे सिविल सेवा दिलाने में लागत गांव की अपेक्षा नगर में बहुत अधिक होती है और छोटे नगर की तुलना में महानगर के केंद्र में अपेक्षाकृत अधिक होती है।

जब स्वतंत्रता प्राप्त कर ली गई तब गांधी जी के उत्तराधिकारी नेहरू ने उनकी बात नहीं सुनी। आज भी संदेहप्रद स्थिति है कि भारत में जो भी सत्ता-भार संभाले हुए हैं वे क्या गांधी जी की बात सुनते हैं। हम 'आधुनिकीकरण' के प्रति गंभीर रूप से प्रतिबद्ध हैं। इसका परिणाम यह है कि मोटे तौर पर भारत सरकार और कतिपय एजेंसियों ने जो भी अनुमान तैयार किए हैं, हमारे देश में शहरी क्षेत्रों की गन्दी बस्तियों और कम स्तर की परिस्थितियों में जीवित रहने वाले लोगों की संख्या दूनी होने की आशा की जाती है और सातवीं पंचवर्षीय योजना के अन्त (1988) तक 10 करोड़ तक पहुंच जायेगी।

दीवाल से घिरी पूरी दिल्ली के कम स्तर के क्षेत्रों और लखनऊ, वाराणसी और पटना आदि की पुरानी बस्तियों का रहन-सहन पशुओं के जीवन से बेहतर नहीं है और वस्तुतः महानगरों की स्थिति चिंताजनक है। इस तथ्य से यह समझा जाना चाहिए कि कलकत्ता और बंबई की 33 प्रतिशत जनता पहले ही गन्दी बस्तियों में रह रही है। इस समस्या की गंभीरता छठी पंचवर्षीय योजना द्वारा समझी जा सकती है कि 1985 तक 331 लाख परिवार गंदी बस्तियों में रहने लगेंगे अर्थात् शहर के पांच परि-वारों में से एक परिवार गंदी बस्ती में रहने लगेगा।

बंबई में किस सीमा तक स्थितियों में गिरावट आ गई है। इस तथ्य को आगे दिए गए पत्र से स्पष्ट किया जा सकता है जो 2 दिसंबर, 1980 को 'इंडियन एक्सप्रेस', नई दिल्ली में प्रकाशित किया गया था :

गंदी बस्तियों में न्यायाधीश

श्रीमन्, मैं मद्रास से करुणाजनक रिपोर्ट का संदर्भ देना चाहता हूं जिसमें यह कहा गया है कि बंबई की अधीनस्थ सेवाओं के न्यायाधीश गंदी बस्तियों में रह रहे हैं और कुछ न्यायाधीश अपने कार्यालयों तक पहुंचने के लिए लगभग 80 किलोमीटर की यात्रा करते हैं।"•••इन न्यायाधीशों के जीवन के रहन-सहन की परिस्थितियों के कारण उनके पास अध्ययन, चिंतन, मनन और निर्णय करने का समय ही नहीं बच पाता : इससे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है कि वे सामाजिक न्याय के शत्रुओं की दया पर आश्रित हैं।"

कई वर्ष पूर्व महाराष्ट्र राज्य विधानमंडल में उन कतिपय न्यायाधीशों के अत्याचारपूर्ण रहन-सहन पर वाद-विवाद हो गया जिनके बारे में यह रिपोर्ट दी गई थी कि वे अस्तबल में रहते हैं।

—बी० टी० बस्तूर

अन्य दो महानगरों दिल्ली और मद्रास में गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों की संख्या में 25 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि हो गई है। अहमदाबाद में इससे कुछ कम 24 प्रतिशत की वृद्धि गंदी बस्तियों में रहने वालों की है। हैदराबाद, पूना और बंगलौर में गंदी बस्तियों में रहने वालों का प्रतिशत क्रमशः 18.55, 14.25 और 10 है। इस सभी में सबसे अधिक दयनीय स्थिति कानपुर की है जहां गंदी बस्तियों के अनुपात कल्पना से परे हैं। सरकारी अनुमानों के अनुसार 37 प्रतिशत से अधिक लोग गंदी बस्तियों में रह रहे हैं और विशेष सुधार की कोई आशा नहीं है।

बड़े नगरों या महानगरों का प्रबंध धीरे-धीरे असंतुलित होता जाता है और उनमें रहन-सहन की परिस्थितियां तेजी से बिगड़ रही हैं। आदमियों का विशाल जमघट और उनकी गंदी बस्तियां पूंजी-प्रधान उद्यमों का सीधा परिणाम हैं और जो इन शहरों अथवा विशेष बस्तियों में एकत्रित होता जाता है क्योंकि अंतर-संरचना सुविधाएं ऐसी हैं जो वहीं उपलब्ध हैं।

एक ओर, किसी व्यक्ति को बहुमंजिला भव्य भवन देखने को मिलेंगे तो दूसरी ओर उसी व्यक्ति को हजारों और लाखों लोग ऐसे मिलेंगे जो इन गगनचुंबी अट्टालिकाओं की छाया में फुटपाथ पर सो जाते हैं।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने केंद्रीय सरकार के सभी मंत्रियों और सभी मुख्यमंत्रियों को 2 अक्टूबर, 1957 को शहरों में उद्योगों तथा सरकारी कार्यालयों के संघ केंद्रित होने के बारे में एक टिप्पणी लिखी जिसमें यह कहा गया :

"यह बिल्कुल सही है कि किन्हीं विशेष स्थानों में कार्यालयों और उद्योगों के

संकेंद्रित किए जाने के अपने जैसे लाभ हैं और यह बात समझी भी जा सकती है। एक बार कोई भी बड़ा केंद्र स्थापित कर लिया जाय —चाहे वह सरकारी या औद्योगिक ही क्यों न हो, तो उसकी वृद्धि होती रहती है। एक कार्यालय दूसरे कार्यालय को आर्कषित करता है। एक उद्योग अपने सहवर्ती उद्योग अथवा संबंधित उद्योगों को आर्कषित करता है। सामान्य सेवाओं और सुविधाओं का एक समूह बन जाता है ताकि सरकारी कामकाज और उस स्थान में स्थापित फर्मों के कामकाज की आवश्यकताओं को पूरा किया जाए। कुशल श्रमिकों का दल स्थापित किया जाता है। शायद वहां कुछ ऐसे भी प्रबंध कर लिए जाते हैं जिनसे तकनीकी शिक्षा दी जा सके। एक सरकारी वातावरण पैदा कर लिया जाता है अथवा औद्योगिक या वाणिज्यिक वातावरण बना लिया जाता है चूंकि इसका क्षेत्र अधिक होता है अतः कतिपय वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादक इसकी ओर आर्कषित होते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे संकेंद्रण बढ़ता जाता है और अंततोगत्वा इसके परिणामस्वरूप बहुत बड़े शहर बन जाते हैं।

" इन सबके लाभ और आकर्षण हैं। इसमें हम सामाजिक और सांस्कृतिक आकर्षणों तथा बड़े शहर द्वारा सौंपी गई सुविधाओं को भी जोड़ सकते हैं।

" फिर भी ऐसा समय आता है जब हानियां इन लाभों से आगे बढ़ना शुरू कर देती हैं और जैसे ही वृद्धि होती जाती है कार्यकुशलता में कमी आती जाती है, यातायात की भीड़ बढ़ जाती है, कामगारों को अपने घर से कार्यालयों तक जाने और फिर लौटने में अपनी यात्राओं में अधिक समय लगने लगता है। सामान्य रूप से उत्पादन और सरकारी कार्य की हानि होने लगती है तथा गंदी बस्तियां बढ़ने लगती हैं। रोग और दुर्घटनाएं मृतकों की संख्या बढ़ाती हैं।

" जैसे-जैसे कोई शहर अधिकाधिक घना बसता जाता है उसकी सेवाओं की रख-रखाव की लागत तेजी से बढ़ जाती है। सड़कों का सुधार और यातायात नियंत्रण बड़ी समस्याएं हो जाते हैं। सड़कों का चौड़ा करना बहुत मुश्किल काम हो जाता है क्योंकि इसमें वर्तमान इमारतों का अधिग्रहण और नष्ट करना जैसे काम निहित हैं। जमीन की कीमत बढ़ती जाती है और सार्वजनिक गृह-व्यवस्था बहुत अधिक महंगी हो जाती है। अंततोगत्वा यह सभी व्यय कर-दाता के भाग में आता है। बड़े-बड़े शहरों में रहन-सहन की लागत प्रायः अन्य स्थानों की अपेक्षा सबसे अधिक होती है। परिवहन सेवाओं को भी राज-सहायता दी जाती है···

" अब हमारे तत्काल विचार करने के लिए प्रश्न यह है कि इस उत्तरोत्तर अवनति को कैसे रोका जाय और अन्य दिशा में क्या कदम उठाए जायं। अब यह अधिक समय की सुविधा का प्रश्न नहीं है अपितु यह तात्कालिक और अपरिहार्य आवश्यकता है इसलिए हमें इस बात की कोशिश करनी चाहिए कि

इस प्रकार की वृद्धि का अंत कर दिया जाए और इसके साथ ही सुनियोजित ढंग से कार्यालयों और उद्योगों को तितर-बितर कर दिया जाए, उद्योगों का तितर बितर करना देश के विभिन्न क्षेत्रों की संतुलित वृद्धि की दृष्टि से भी आवश्यक है।"

फिर भी कार्यालयों और उद्योगों का सुनियोजित ढंग से वितरण करना इस समस्या का समाधान नहीं है; यह एक अधिक से अधिक सुधारक साधन है अथवा एक ऐसा उपाय है जिसे खरीदने में कुछ समय लगेगा। गांव से शहर को आने वाले लोगों के कारण शहर तेजी से बढ़ रहे हैं और शहरों के तेजी से बढ़ने का यही मुख्य कारण है जिसको समाप्त करना होगा। यह तभी संभव हो सकता है जब कुटीर या घरेलू और अन्य श्रम प्रधान उद्यम गांवों में उपलब्ध किए जाएं और वहां की परिस्थितियां रहने योग्य बना दी जाएं। इसके अलावा एक कानून ऐसा बना दिया जाना चाहिए जो पूंजी प्रधान उद्यमों की स्थापना की रोकथाम करे। यह कानून भविष्य में शहर या कस्बे में काम में लाया जाए जहां पिछली जनगणना के अनुसार एक लाख से अधिक जनसंख्या थी।

चीन ने उद्योग की अपेक्षाकृत कृषि पर अधिक बल देने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है लेकिन उद्योगों और कृषीतर कार्यकलापों अथवा उद्यमों में से श्रम प्रधान उद्यमों पर विशेष बल दिया गया है और इसकी तुलना में भारी उद्योग पर बल नहीं दिया गया है। अनुभव अथवा कठोर आर्थिक तथ्यों में उन्हें दकियानूसी, साम्यवादी सिद्धांत के संशोधन करने पर बल देना पड़ा है। ग्रामीण क्षेत्रों से भागने वालों पर नियंत्रण किया जा रहा है और शहरीकरण को न्यूनतम किया जा रहा है। और शहरीकरण को न्यूनतम किया जा रहा है। कृषि की आंतरिक संरचना के औद्योगिकीकरण के संबंध में कोई विचार नहीं है जैसा कि माओ-अनुयायियों ने कहा है कि श्रम-प्रधानता ही जारी रहेगी। इसलिए कृषि मशीनरी, ट्रैक्टर अथवा रासायनिक उर्वरक के तैयार करने का कोई भी नया कारखाना 1962 के बाद स्थापित नहीं किया गया। अभी तक चीन के किसानों के पास कुदालें, फावड़े और डलियां मुख्य औजार हैं।

जनसंख्या की वृद्धि या अन्य कारणों से कृषि क्षेत्रक से अधिकांश कामगार मुक्त किए गए। वे शहर को नहीं भागे। उन्हें उन्हीं के आवास-स्थलों पर छोटे या कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण दिया गया और उन्हीं कामों पर उन्हें लगा लिया गया। माओ के शासनकाल में किसान इस बात का विशेष ध्यान रखता था कि यदि देहात में परिवर्तन किया जा सकता है तो यह आवश्यक है कि उसे बिल्कुल ही नष्ट न कर दिया जाए। मांओ-त्सीतुंग यह जानते थे कि देहाती क्षेत्र से उखड़े हुए लोगो को विशाल शहरों के बड़े पैमाने के कारखानों में फिर से लगाने से ऐसी समस्याएं जन्म ले लेंगी जिनका निराकरण करना बहुत मुश्किल काम होगा। उन्होंने महानगरों के काम्प्लैक्स को एक चेतावनी के रूप में समझा जो अब जापान के प्रशांत महासागर के तट पर बना दिए

गए थे। भारत और चीन जैसे अधिक जनसंख्या काले देशों में गांव से बाहर आने वाले लोगों को जो कारखाने काम में लगा सकते थे, वे कारखाने केवल तभी चल सकते थे जबकि वे अपने उत्पादों से विश्व को भरपूर कर दें।

कुछ वर्षों पूर्व किसी ने कहा है : "कोई व्यक्ति चीन के बारे में सोचता है। चीन आधुनिक प्रौद्योगिकी को बिना छोड़े हुए उसकी कमजोरियों को बचा रहा है। चीन में निजी मोटरगाड़ियां नहीं हैं और भविष्य में भी इन मोटरगाड़ियों के रखने का कोई इरादा नहीं है। चीन जहां तक संभव है वहां तक विशाल संयंत्रों से बच रहा है। जहां कहीं भी कतिपय दबावों के कारण ऐसा नहीं हो पाता तो चीन ऐसे उपक्रमों के संबंध में पहले ही इस बात पर ध्यान देता है कि कहीं प्रदूषण की समस्या न खड़ी हो जाए। यह अनावश्यक विस्तार और विकेंद्रण का उद्योग है। यह शहरी क्षेत्रों के देहातीकरण के लिए है और देहात को शहरीकरण के लिए है। ग्रामीण जनसंख्या शहरों को नहीं भाग रही है, इसके विपरीत शिक्षित युवक देहाती क्षेत्रों को जा रहे हैं और नेतृत्व इस प्रक्रिया को बराबर प्रोत्साहित कर रहा है।"

शायद यह असंगत न होगा कि चार्ल्स एन० आइजन ड्रैथ द्वारा लिखित लेख "रिटर्न टु स्मॉल टाउन" से एक उद्धरण दे दिया जाए। यह लेख नवंबर, 1979 में अमरीकी पत्रिका 'स्पेन' में प्रकाशित किया गया था :

> "दस साल बीत गए। मिशिगन में एक सुदूर गांव था। इस गांव का नाम बौएने सिटी था। इस गांव का भाग्य ग्रामीण अमरीका से बहुत कुछ मिलता था : यह शांत था, नीरस था और पतनोन्मुख था। इसकी प्रगति परिचित थी। भूमि से प्रचुर संसाधनों का उपभोग करने के बाद इस गांव के निवासी नौकरी तलाश करने के लिए शहरों को जाने लगे।
>
> "बौएने सिटी 1900 ईसवी में 12,000 लोगों की बस्ती था जो लट्ठा काटने के शानदार काम में लगे हुए थे और 1925 ईसवी तक मैपल और चीड़ के अंतिम जंगल काटने के बाद 1,300 निवासी ही रह गए। होनहार युवक इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि 'इस कार्य को करने का अर्थ' अपना घर छोड़ना है। बौएने सिटी और देहात सामान्य रूप से अमरीकी सीमाओं में गरीब दिखने लगे और शहरी औद्योगिककीरण की नई झक के कारण अवहेलित हो गए।
>
> "फिर भी अभी हाल ही में 'अपनी भूमि को लौट चलो' जैसे आंदोलन ने नाटकीय ढंग से आनंद की खोज में अमरीका की आधारभूत कल्पनाओं में परिवर्तन किया है। शहरों को संपत्ति, प्रतिभा और जनसंख्या के जाने से बराबर होने वाली हानि के बजाय 1970 में नाटकीय ढंग से ग्रामीणं जिले आगे आ गए हैं और वे अमरीका के सबसे पुराने ढंग से बदल रहे हैं। उस समय से 3,00,000 अमरीकी देहात को लौट गए हैं और अब देहातों में महानगरों के क्षेत्रों की अपेक्षा दूनी दर से संवृद्धि हो रही है।"

भारत के उत्पादन के कारकों में से भूमि और पूंजी की आपूर्ति का अभाव है लेकिन श्रम का आधिक्य है। मुक्त अर्थव्यवस्था में यह भूमि या पूंजी के पारिश्रमिक की तुलना में श्रम की कम मजदूरियों में परिलक्षित होनी चाहिए। इसलिए हमारे देश के कारक न्यास को अपने सहारे छोड़ देना चाहिए और उत्पादक प्रक्रिया में श्रम के बढ़ते हुए प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए; लेकिन ट्रेड यूनियनों के कार्यकलापों को साधुवाद है कि मजदूरियों को गिरने नहीं दिया गया है—चाहे कितना ही अधिक श्रम फालतू क्यों न हो, जैसा कि हमारे देश में है। औद्योगिक उत्पादन का विकेंद्रीकरण श्रम और पूंजी का सतत संघर्ष समाप्त कर देगा (आर्थिक कार्यकलाप के विशाल क्षेत्र बिल्कुल ही मिटा देगा) जो आज हम अपने देश में देखते हैं।

अभी लगभग अंतिम रूप से निर्णायक एक अन्य तर्क है जो साधारणतया कम पूंजी प्रधान अथवा उच्च श्रम प्रधान उद्यमों की अर्थव्यवस्था के पक्ष में है अर्थात् अब हमारे पास बहुत कम या बिल्कुल भी समय नहीं है। लोग अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। हमारे आयोजकों का उद्देश्य यह रहा है कि औद्योगिक वृद्धि के साथ-साथ रहन-सहन का उच्च स्तर रखा जाए। यह तथ्य बिल्कुल ही स्वीकार्य है और इसी के कारण हमारी पंचवर्षीय योजनाओं को राजनीतिक समर्थन मिला है लेकिन साधन-योजनाओं के अन्तर्गत निहित त्याग अर्थात् ऊंचे कर और मुद्रा-स्फीति सविस्तर विदित हो चुके हैं और इनका कड़ाई से विरोध किया जा रहा है।

लोकतंत्र में सरकार को मतदाताओं के स्वैच्छिक सहयोग को जीतना होता है। राजनीतिक रूप से इन साधनों को प्राप्त करना अधिक कठिन है अर्थात् ऊंचे कर वसूल किए जाएं और मुद्रा-स्फीति की अवहेलना कर दी जाए। यह सर्वसत्तात्मक देश के लिए ठीक नहीं है जहां उपभोग को किसी भी सीमा तक कम किया जा सकता है जैसे कि सरकार की इच्छा हो और इसलिए सभी आवश्यक वस्तुओं को बिना किसी कठिनाई के बढ़ाया जा सकता है क्योंकि व्यक्तियों की सहमति की आवश्यकता नहीं होती है। उदाहरणार्थ रूस और चीन में कुल मिलाकर किसानों की सबसे अधिक जनसंख्या है जो स्पष्टतया सामूहिकता के विरोधी हैं जिसके द्वारा भारी उद्योगों को पूंजी मिला करती थी। ऐसे कार्यक्रम में से केवल तानाशाही उभरकर काम कर सकती थी।

जहां तक पश्चिमी देशों का संबंध है, इन देशों में आर्थिक क्रांति जनता द्वारा राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने से पूर्व आ चुकी थी। बहुत समय हुआ जब इन देशों की जनता वयस्क मताधिकार, एसोसिएशन का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार आदि तरीकों से प्रमुख बन गई थी। वे अपने उद्योगों को बनाने में समर्थ हो गए थे और अपनी प्रौद्योगिकियों को भी पूर्ण करने के योग्य बन गए थे अर्थात् लोकतंत्र या राजनीतिक क्रांति की जो मांगें थीं उन्हें पूरा करने के लिए पर्याप्त संसाधनों का उत्पादन करने लगे थे। पूंजी एकत्र करने का कार्य उस बढ़ते हुए उत्पादन में कामगारों के अपने देय भाग का न दिया जाना था जो उत्पादन के नवीन और नवीनतर तरीकों और प्रौद्योगिकियों के प्रयोग के कारण हुई थी। इस प्रकार पूंजीवादी नियोक्ता अपने अधिक लाभों में से बड़े-बड़े निवेश करने के योग्य हो गया जब तक कि अर्थव्यवस्था घट जाने

योग्य हो गई।

दूसरी ओर भारत और अन्य आर्थिक रूप से अविकसित देशों में जनसंख्या की वृद्धि ने आर्थिक सुधार में बाधा डाली है। वहां जनता की महत्त्वाकांक्षाएं राजनीतिक लोकतंत्र से जाग उठी हैं जो उन्हें प्राप्त हुआ है। वे अब गरीबी और आर्थिक असमानताओं के प्रति अधिक सजग होते जा रहे हैं और जीवन को उन्मुक्त तरीके से बिताने के लिए चेतावनी देते हैं। राष्ट्रपिता के परामर्श को उन लोगों ने बिल्कुल ही अवहेलित कर दिया जिन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के समय से ही देश में शासन किया है। उनका अपना आदर्श दयनीय स्थिति से असफल हो चुका है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमें ब्रिटिश शासन काल से जो पुरानी समस्याएं विरासत में मिली थीं वे न केवल बिगड़ गई हैं बल्कि नई समस्याएं भी पैदा हो गई हैं जो 1947 में विद्यमान न थीं। और अब हमारे शासकों को यह पता नहीं है कि क्या किया जाए और कहां जाया जाए, इसलिए देश में असंतोष ही असंतोष है।

इस प्रकार तर्क को तर्क की तरह स्वीकार करने पर उद्योग के पूंजी प्रधान रूपों से राष्ट्रीय आय बढ़ी है और दीर्घकाल में पूंजी एकत्र हुई है और इस प्रकार अंततोगत्वा अपेक्षाकृत सघन रूप में निवेश की अपेक्षा उपभोक्ता स्तरों में वृद्धि हुई है तो निवेश लाभों के समय कारक की अवहेलना नहीं की जा सकती। श्रम निवेश और पूंजी प्रधान परियोजनाओं के उत्पादन के प्रभाव के मध्य समय अंतराल विशेषकर भारत जैसे पिछड़े और सघन कृषि अर्थव्यवस्था में विचारणीय होंगे और इन पर श्रम प्रधान उद्यमों में भी अधिक विचार किया जाएगा जिसका अर्थ यह है कि अनावश्यक देर होगी जो पूरी समस्या का केंद्रबिंदु है।

बढ़ती हुई श्रम दक्षता की समस्या का एक भाग प्रवृत्तियों का परिवर्तन है और इससे जनता अपेक्षाकृत अधिक, अधिक समय तक और अच्छे ढंग से काम करती है और इसके लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि उन उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन किया जाए जिन्हें लोग मांगते हैं। इन वस्तुओं को प्रोत्साहन करने वाली वस्तुएं भी कहा जा सकता है क्योंकि वे लोगों को अपेक्षाकृत अधिक आमदनी पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। वस्तुतः अंतिम विश्लेषण में उपभोग और निवेश के बीच विभेद टूट जाता है क्योंकि मनुष्य स्वयं आर्थिक संवृद्धि का साधन और लाभ का भागीदार होता है। पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा जनता की परिसंपत्तियों का उतना ही बड़ा भाग है जितना कि वे तात्कालिक संतोष के उद्देश्य हैं।

इसलिए हम अधिकाधिक ज़ोर पूंजी प्रधान परियोजनाओं और निवेशों पर देते हैं जिनके पूरा होने में लंबी अवधियों की आवश्यकता होती है और अधिकांशतया पूंजी या उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और इसलिए समय को आस्थगित कर देते हैं जब उपभोक्ता के स्तर उठाए जाएंगे या उठाए जा सकते हैं। और उस जनता की अधिकाधिक प्रतिशतता होगी जो अधीर हो रही है।

नेहरू ने 'भारी उद्योग प्रथम' की संवृद्धि के मॉडल को स्वीकार किया था। इस तरीके के अनुसार खाद्यान्न के आयात करने की बजाय यह अच्छा होगा कि अपने

देश में खाद्यान्न उपजाने के लिए उर्वरकों का आयात किया जाए और उर्वरकों के आयात किए किए जाने के बजाय अपने देश में उर्वरकों के पैदा करने के लिए उर्वरक मशीनरी का आयात करना अधिक अच्छा होगा। इसके बाद उर्वरक मशीनरी के आयात करने की बजाय यह तर्क दिया गया कि अपते देश में उर्वरक मशीनरी तैयार करने के लिए मशीनरी का आयात करना अधिक श्रेयस्कर होगा। इससे भी अधिक श्रेयस्कर यह होगा कि हम अपने देश में ही उर्वरक मशीनरी तैयार करने के लिए मशीनों के आयात करने के बजाय अपने विशेष संयंत्र स्थापित करें।

योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य डॉ० बी० एस० मिन्हास, जो दिसंबर 1973 में आयोग से त्यागपत्र दे चुके थे, ने 13 मार्च, 1974 के 'हिंदुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली में एक लेख प्रकाशित कराया जिसमें कहा गया है :

"भारत के विकास का यह दृष्टिकोण अनेक संकल्पनात्मक और व्यावहारिक कठिनाइयों से भरपूर है। पहली कमी यह है कि विकास का यह दर्शन उस प्रश्न का सामना नहीं कर पाता कि क्या हमें अगले वर्ष या दस वर्षों के बाद खाद्यान्न की आवश्यकता है। दूसरी कमी यह है कि इसमें तुलनात्मक लाभ के सिद्धांत की संगतता और कतिपय चुने हुए आधारों पर तुरत विशेषज्ञता से प्राप्त लाभों की अवहेलना कर दी गई है। इसके कारण राष्ट्रीय संसाधनों का अधिक दुरुपयोग बढ़ गया है यह केवल एक दुर्घटना ही नहीं है कि आज हम न केवल खाद्यान्न का आयात कर रहे हैं बल्कि उर्वरकों की काफी मात्रा का भी आयात कर रहे हैं। उर्वरकों को बनाने वाली मशीनरी का आयात कर रहे हैं। मशीनरी और उससे संबंधित सभी वस्तुओं का आयात कर रहे हैं। भारी उद्योगीकरण के लिए आधार के रूप में चहुंमुखी आयात स्थानापन्न के दर्शन ने हमें आयात पर अपेक्षाकृत अधिक निर्भर बना दिया है जबकि न तो कभी हम ऐसे थे अथवा न कभी हमें इस बात की आवश्यकता थी। आज इस लंबी चेन की प्रत्येक कड़ी हिली हुई है और अपने स्थान पर बने रहने के लिए आयातों की निर्भरता स्वीकार करनी पड़ी है तथा इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के उतार-चढ़ाव के प्रति अति संवेदनशील है।

"व्यावहारिक रूप से विकास के इस दर्शन के प्रति हमारे लगाव का सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि हमने कृषि और ग्रामीण विकास की अवहेलना कर दी है। इस अवहेलना के दुष्प्रभाव बहुत समय से एकत्र हो गए हैं, केवल उनके पूरे प्रभाव को महसूस नहीं होने दिया गया है। पीएल-480 के अंतर्गत खाद्यान्न के बड़े-बड़े आयात और विदेशी सहायता के बड़े-बड़े रूप जैसे प्रशामक भारत में विकास की इस नीति को जीवित बनाए हुए हैं।"

हमारे 'रैडीकल' अथवा क्रांतिकारी यह नहीं समझते कि समय की धूल उनसे आगे बह रही है। भारत की जनता खोखली और दकियानूसी दर्शन के नाम पर उन पर अनावश्यक रूप से थोपे गए त्याग को अधिक समय तक स्वीकार नहीं करेगी जबकि यह

दर्शन उनके लिए कुछ नहीं देता बल्कि गरीबी, बेरोजगारी और दारुण दुःख को ही बराबर बढ़ाता रहता है। बेचैन अथवा अधीर जनता प्रायः यह महसूस नहीं कर पाती कि साधनों का भी उतना ही महत्त्व है जितना लक्ष्यों का होता है। यदि उनकी मेहनत की कमाई के लाभों को करों के रूप में सरकार को अदा कर दिया जाता है अथवा उनके लाभों के भुगतान करने में अनुचित देर हो जाती है और बेरोजगारी की वर्तमान बढ़ती हुई प्रवृत्ति को रोका नहीं जा सका तो आर्थिक संवृद्धि शीघ्र ही राजनीतिक संकट द्वारा चकनाचूर होने की दशा में आ जाएगी : वास्तव में जनता निराश हो जाएगी और यह निष्कर्ष निकालेगी कि लोकतंत्र अच्छा नहीं है तथा शासन की बागडोर उन लोगों के हाथों में सौंप देनी चाहिए जो किसी न किसी प्रकार गरीबी से शीघ्र मुक्त कराने का वचन देते हैं। भारत में आज जिस प्रकार के समाजवाद का व्यवहार है इससे तानाशाही अथवा वर्तमान साम्यवाद के आने में देर नहीं है।

इसलिए इस दृष्टिकोण से देखने पर पूंजी प्रधान और श्रम प्रधान प्रौद्योगिकियों में चयन करना वाद-विवाद का शायद ही कोई विषय हो; निवेश के श्रम प्रधान रूप अथवा कम पूंजी प्रधान उद्योग जो प्रारंभिक लाभों को सुनिश्चित करते हैं, विशेष रूप से स्वीकार किए जाते हैं। वे उपभोक्ता प्रोत्साहित वस्तुओं को शीघ्र ही उपलब्ध करा देंगे और शीघ्र ही अधिक आमदनी पैदा करने और अधिक पूंजी की बचत की क्षमता पैदा कर देंगे।

विकेन्द्रित उद्योगों के विपरीत तर्कों का समाधान

पूंजी प्रधान प्रकारों के समर्थक इस बात से सहमत हैं कि बहुत ही कम अवधि में श्रम प्रधान उद्योग या प्रक्रिया में निवेश की इकाई पूंजी प्रधान प्रकार की इकाई की अपेक्षा अधिक रोजगार उपलब्ध कराएगी। लेकिन वह यह निश्चयपूर्वक कहते हैं कि सर्वप्रथम हमारे देश में कृषि के संबंध में उत्पादक ही सबसे बड़ा उपभोक्ता भी है लेकिन यह बात उद्योग के संबंध में सही नहीं है इसलिए उपभोक्ताओं के हित के प्रति विशेष रूप से विचार करना चाहिए : मूलभूत आवश्यकताओं की कीमतें ऐसे स्तर तक लाई जाती हैं कि साधारण परिवार का व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद अपने पास इतनी बेशी बचा सके जिससे कि वह कुछ आरामदायक वस्तुएं भी खरीद सके।

उन्होंने यह भी तर्क दिया है कि उन्नत प्रौद्योगिकी और स्वचालित तरीकों के प्रयोग ने वार्षिक क्षमता की प्रत्येक यूनिट की पूंजी लागत को कम किया है। यह क्षमता उत्पाद की कम लागत में परिलक्षित होती है। इसके अलावा उन्नत प्रौद्योगिकी किसी अन्य प्रकार से उत्पादन की अपेक्षाकृत कम लागत की ओर उन्मुख होती है अर्थात् इसमें कच्ची प्रौद्योगिकी की अपेक्षा कच्चे माल का अधिक उपयोग होता है। उदाहरण के लिए, एक कुटीर कामगार कपास के दिए गए भार से उतनी ही मात्रा में कपड़ा तैयार नहीं कर सकता जितनी मात्रा में आधुनिक टैक्सटाइल मिल्स कपड़ा तैयार कर देती हैं। इसके परिचालन की विभिन्न अवस्थाओं में बर्बादी कहीं अधिक होती है। इसी

प्रकार एक कच्चा कामगार गन्ने से उतना रस नहीं निकाल पाता जितना कि एक मिल निकाल पाती है।

दूसरे, यद्यपि श्रम-प्रधान प्रकारों में उत्पादन निवेशित पूंजी की राशि की अपेक्षा अधिक होता है और यहां पूंजी की अर्थव्यवस्था है तो प्रति आदमी प्रति घंटा उत्पादन अथवा श्रम-उत्पादकता गिर जाती है और यद्यपि कुल उत्पादन बढ़ जाएगा फिर भी इसको उद्योग के बढ़ते हुए कामगारों में विभाजित किया जाना है। जब ऐसा किया जाता है तो कामगारों के रहन-सहन का स्तर भी गिर जाता है।

तीसरे, आर्थिक विकास में उपलब्ध संसाधनों की अधिकतम उपयोगिता शामिल नहीं की जाती है लेकिन इन साधनों की तीव्र वृद्धि से विशेषतया पूंजी-संसाधनों की वृद्धि से और अधिक समय में पूंजी प्रधान प्रकार पूंजी-संचयन में अपेक्षाकृत अधिक बेशी पैदा करेंगे और इस प्रकार रोजगार और राष्ट्रीय आय के लिए अपेक्षाकृत अधिक योगदान देंगे। पूंजी-प्रधान उद्यम उन लोगों के हाथों में अतिरिक्त आय के संकेंद्रित होने के प्रभाव से ग्रस्त होते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक बचा लेते हैं और देश में अधिक औद्योगिकीकरण के लिए उसका निवेश करते हैं। यदि उत्पादन को उन कई कामगारों में वितरित किया जाए जिनकी कम आमदनी है तो इसका संपूर्ण या अधिकांश भाग उप-भोग में ही उपयोग किया जाएगा या कुछ या नगण्य भाग पूंजी-संचय कर सकेगा जो आर्थिक विकास के लिए अधिक आवश्यक है।

चौथे, किसी भी माने गए उत्पादन के क्षेत्र में पूंजी के स्थान पर श्रम के स्थानापन्न के प्रयत्न, जो कच्ची अथवा कम पूंजी-प्रधान प्रौद्योगिकियों की स्वीकृति निहित है, से हम वस्तुतः श्रम का अभाव पैदा कर सकते हैं।

पांचवें, निम्न पूंजी-प्रधान अर्थव्यवस्था के अंतर्गत हम ऐसी वस्तुएं पैदा कर सकते हैं जो हमारे उपभोक्ताओं को स्वीकार्य नहीं हैं।

अंत में यह दलील दी जाती है और इस दलील के प्रति नेहरू भी सहमत थे कि गांधी-विचारधारा पर आधारित अर्थव्यवस्था देश की सैन्य शक्ति को दुर्बल बना देगी और उसकी सुरक्षा-स्वतंत्रता को खतरे में डाल देगी।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि पूंजी-प्रधान उद्योग (उन्नत प्रौद्योगिकी पर आधा-रित) अपेक्षाकृत सस्ती वस्तुओं और कच्चे माल की अपेक्षाकृत अधिक उपयोगिता की ओर उन्मुख करते हैं लेकिन ऐसे देश में जहां पूंजी-संचयन की प्रगति बहुत ही धीमी हो और आय के निम्न स्तरों के दृष्टिकोण से इसकी गति बहुत ही धीमी हो प्रत्येक व्यक्ति की उस आय के अंश, जो उपभोक्ता वस्तुओं (खाद्यान्न के अलावा) की खरीद पर बढ़ जाती है, अधिक नहीं हैं। उत्पादन के अपेक्षाकृत कम कुशल साधनों द्वारा पैदा की गई वस्तुओं की कुछ ऊंची कीमत इतनी अधिक कीमत नहीं है कि पूंजी और रोज-गार की व्यवस्था तथा उसके रख-रखाव के व्यय के लिए अदा की जाए।

इस तर्क के उत्तर में महात्मा गांधी ने 10 सितंबर, 1934 की 'हरिजन' पत्रिका में इस प्रकार लिखा है :

"देखने में यह विचित्र लगता है, प्रत्येक मिल सामान्यतया हमारे ग्रामीणों के लिए जोखिम है। मैंने आंकड़े नहीं निकाले हैं लेकिन मैं यह आसानी से कह सकता हूं कि प्रत्येक मिल का एक कामगार जितना काम करता है, कम से कम दस मजदूर अपने गांव में उतने ही काम को कर लेते हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह गांव में जितना पैदा करता उससे अधिक पैदा करता है लेकिन उसकी यह आय उसके दस ग्रामीण साथियों के नाम पर होती है। इस प्रकार कताई और बुनाई की मिलों ने ग्रामीणों को उनके रहन-सहन के पर्याप्त साधनों से वंचित कर दिया है। इसके उत्तर में यह कहना ठीक नहीं है कि मिलें अपेक्षाकृत सस्ता और अच्छा कपड़ा तैयार करती हैं यदि वे ऐसा करती भी हों और यदि मिलों ने हज़ारों कामगारों को बेघरबार कर दिया है तो मिल का तैयार किया गया सबसे सस्ता कपड़ा भी कहीं अधिक महंगा है जबकि इसकी तुलना में गांव में काती गई सबसे मंहगी खादी सस्ती होती है।

" कोयला खननकर्ता के लिए कोयला महंगा नहीं होता क्योंकि वह उसका उसी समय उसी स्थान पर उपयोग कर सकता है इसी प्रकार ग्रामीण के लिए खादी महंगी नहीं है जो अपने लिए खादी का निर्माण करता है। "

आर्थिक सुरक्षा के लिए योजना—जिसे हम कभी न भूलें—का अर्थ यह है कि हमारे देश में विशेषतया प्रथम और सबसे आगे परिस्थितियों में योजना ऐसी होनी चाहिए कि पूरा रोजगार पैदा हो सके और उसे बनाया रखा जा सके। इसके अलावा श्रम-प्रधान उद्योग देश भर में फैल जाएं और उत्पादक स्वयं कुल उपभोक्ताओं का एक बहुत बड़ा भाग बन सकें और उनका यह भाग इतना बड़ा हो कि वे पूंजी-प्रधान संरचना की अर्थव्यवस्था में उतना नहीं हो पाते जहां कामगार उपभोक्ताओं की संख्या तुलनात्मक रूप से कम होती है इसलिए अपेक्षाकृत सस्ती वस्तुओं की संभावना या वांछनीयता के बारे में यह कहा जाता है कि पूंजी-प्रधान अर्थव्यवस्था के माध्यम से ये वस्तुएं उपलब्ध की जाती हैं और उपभोक्ताओं को इनसे हानि उठानी पड़ती है; श्रम प्रधान उद्योगों में उत्पादक काफी संख्या में उपभोक्ता भी होते हैं।

कच्चे माल के प्रयोग में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के संबंध में वित्तीय संसाधन और रोजगार की व्यवस्था यदि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं तो समान रूप से महत्त्वपूर्ण अवश्य हैं। क्या हमारे पास इतनी मात्रा में पूंजी होती है जो बड़े पैमाने के उद्योगों में निवेश करने के लिए आवश्यक होती है और क्या हमने बेरोजगारी का सामना नहीं किया है और तब शायद कोई भी वाद-विवाद या प्राथमिकताओं का निर्धारण आवश्यक नहीं था।

जहां तक रहन-सहन के बारे में दूसरे तर्क का संबंध है वहां पूंजी प्रधान उद्योग केवल उन्हीं व्यक्तियों के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करेगा जो काम पर लगाए जाते हैं। जनता के रहन-सहन का स्तर तभी ऊंचा हो सकता है जब पूरा रोजगार हो और यह श्रम-प्रधान विकेंद्रित उद्योग द्वारा ही अपेक्षाकृत अधिक सुनिश्चित किया जा सकता

है और केवल यही है जिसका सबसे अधिक महत्त्व है तथा इस बात का कोई भी महत्त्व नहीं है कि व्यक्तियों की सीमित संख्या रहन-सहन के अच्छे स्तर को अच्छा निभा सके क्योंकि आलोचकों ने इस बात का समर्थन किया है कि कुल राष्ट्रीय उत्पाद भी निम्न पूंजी सघन अथवा कच्ची प्रौद्योगीकी में अपेक्षाकृत अधिक होगा। जापान इसका एक उदाहरण है। कल तक जापान की अर्थव्यवस्था छोटी-छोटी यूनिटों पर अधिकांशतया आधारित थी। अब भी जापान के प्रति व्यक्ति की आय जो 1953 में भारत के प्रति व्यक्ति की आय से तीन गुनी रही, अन्य कई देशों की अपेक्षा अधिक थी जबकि उन देशों के पास कहीं अधिक भौतिक अथवा प्राकृतिक संसाधन थे।

बेरोजगारी के स्तर में कमी समाज के सबसे दुर्बल भागों के लोगों के हाथों में क्रय शक्ति प्रदान करेगी। बेरोजगारी को दूर करने के लिए कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योग अग्रसर होंगे और इस प्रकार उनके उपभोक्ता के स्तर ही उनके रहन-सहन के स्तर को बढ़ा देंगे और जैसा कि प्रोफेसर डडले सियर्स ने अभी हाल ही में कहा है कि भारत जैसी अर्थव्यवस्थाओं में वहां बेरोजगारी अधिक है, "बेरोजगारी के ऊंचे स्तर को प्राप्त करना आय को पुनर्वितरित करना है; वास्तव में यही एक रास्ता है जो हमारी जनसंख्या के सबसे गरीब दलों को एक ऐसा अवसर उपलब्ध कराता है ताकि वे कुल आय का अधिकांश भाग प्राप्त कर सकें।" इस प्रकार श्रम प्रधान अर्थव्यवस्था का इन पृष्ठों में प्रस्ताव किया गया है और इससे सामाजिक न्याय तथा बढ़ता हुआ सकल राष्ट्रीय उत्पाद दोनों ही उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

जहां तक तीसरे तर्क का संबंध है अर्थात् बचाने या निवेश करने के लिए पूंजी-प्रधान उद्यमों के उद्यमकर्ता और मालिकों की क्षमता का संबंध है : अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यदि अपेक्षाकृत अधिक व्यय साध्य प्रौद्योगिकी स्वीकार की जाए तो प्रारंभिक लागत अधिक होगी, लेकिन कहीं अधिक यह होगा कि कुछ ही वर्षों में प्रारंभिक लागतों का भुगतान किया जा सकेगा और इससे काफी लाभ होने लगेंगे परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह बात भुला दी गई है कि सर्वप्रथम कोई भी उत्पादनकर्ता अपने उत्पाद को नहीं बेच सकता जब तक कि उपभोक्ताओं की जेब में पर्याप्त धन न हो। यदि अधिकांश कामगार या संभाव्य कामगार बेरोजगार रहते हैं जैसा कि वे पूंजी-प्रधान अर्थव्यवस्था में रहेंगे, तो उनके पास उत्पादों की खरीद के लिए कोई धन नहीं होगा और कारखाने साधारण तरीके से या तो बिल्कुल ही शुरू कहीं होंगे अथवा जल्दी ही बंद हो जाएंगे। दूसरे यह अनुमान कि पूंजी-प्रधान उद्योग में मजदूरियों से ऊपर कुल वृद्धि पूंजी-संचयन में चली जाएगी, ठीक नहीं है। इसमें से अधिकांश राशि पूंजी के स्थानांतरण के लिए अलग रखी जाएगी और इसके अधिकांश भाग को मालिकों और प्रबंधकों द्वारा स्पष्ट रूप से उपभोग करने के लिए अलग किए जाने की संभावना है। इसके अलावा श्रम प्रधान उद्योग के ऊपर पूंजी प्रधान उद्योग का दीर्घ-कालीन लाभ पूंजी-संचयन के संबंध में एक ऐसा तर्क है जो उन विशिष्ट प्रयत्नों का समर्थन करता है जो स्वैच्छिक बचतों की छोटी यूनिटों और कर द्वारा पूंजी-संचयन की ओर आय के स्थानांतरण को प्रोत्साहित और गतिशील करते हैं।

यह तर्क अंशतः इस कल्पना पर आधारित है कि गैर-मजदूरी आय की कुल राशि छोटे उद्योगों में बड़े उद्योगों की तुलना से अपेक्षाकृत कम होती है और प्रथम कोटि के मजदूरी पैदा करने वाले बिल्कुल भी नहीं बचा पाते हैं। यह दोनों ही धारणाएं सिद्ध नहीं हुई हैं। इसके विपरीत जबकि यह सही है कि श्रम प्रधान उपक्रम में व्यक्तिगत कामगार की आय पूंजी प्रधान उपक्रम की अपेक्षा कम होती है तब एक यूनिट के रूप में उपक्रम की कुल आय में मजदूर की आय की प्रतिशतता दूसरी कोटि की अपेक्षा पहली कोटि में अधिक होती है। ताइवान के अध्ययन को एक विवरण के रूप में पिछले अध्याय में दिया गया है जिससे यह विदित होता है कि छोटे संयंत्रों में प्रत्येक अतिरिक्त डालर के निवेश ने उस उत्पादन का दुगुना उत्पादन किया है जो किसी बड़े संयंत्र में एक अतिरिक्त डालर के निवेश से होता है। छोटे संयंत्रों में मजदूरों की आय का भाग बड़े संयंत्रों में लगे मजदूरों की आय के भाग से दूना होता है।

जहां तक छोटे आदमी की वास्तविक बचतों का प्रश्न है : "यह पाया गया है कि जहां कहीं भी मालिक स्वयं कारीगर-उद्यमकर्ता (सौदागर से अलग हटकर) हो और जिसने अपनी दस्तकारी की क्षमता से उन्नति की हो तो बेशी को व्यापार में पुनः लगाने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट होती है। यह प्रवृत्ति मुख्यतया उन शरणार्थी कारीगरों में स्पष्ट रूप से देखी जाती है जिन्होंने अभी हाल ही के वर्षों में अपने छोटे उद्योग स्थापित किए हैं।"[6]

यह भी ज्ञात है कि ताइवान में किसानों की सीमांत बचतों की दरें इस शताब्दी के सातवें दशक में 30 से 50 प्रतिशत तक रहीं। यद्यपि ताइवान के एक फार्म का औसत आकार केवल 2.07 एकड़ है। जापान में कृषीतर छोटे उधमकर्ता की कुल बचत दर 20 से 30 प्रतिशत तक घटती-बढ़ती रही है।

भारी अथवा उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों के लिए पूंजी-प्रधान प्रौद्योगिकियों के समर्थन के लिए योजना-आयोग ने यह विचार व्यक्त किया है कि जहां तक उपभोक्ता वस्तुओं के उद्यमों का संबंध है यह राष्ट्रीय हित की बात है कि श्रम प्रधान प्रौद्योगिकियों का उपयोग किया जाए।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में कहा गया, "विशेष रूप से यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब बेशी को संचित करने के लिए विकेंद्रित उत्पादन-क्षमता को चुनौती दी जाती है। अलग-अलग वांछनीय उद्देश्यों के मध्य संघर्ष चिंता का विषय बन जाता है। अपेक्षाकृत अधिक उन्नत तकनीकों की तुलना में श्रम प्रधान तकनीक में प्रति व्यक्ति उत्पादित बेशी अपेक्षाकृत कम होती है लेकिन पूंजी संचयन के लिए प्रति व्यक्ति उत्पादन से उपलब्ध कुल बेशी जिनमें सामाजिक और आर्थिक रूप से उन लोगों के रख-रखाव का हिसाब भी रखा जाता है जो अन्यथा कहीं रोजगार नहीं पाते, श्रम-प्रधान तरीकों के मामले में शायद अपेक्षाकृत अधिक हो सकते हैं। कम विकसित अर्थव्यवस्था

6. पी० एन० धर, 'स्मॉल स्केल इंडस्ट्रीज इन देहली', एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई 1958, पृष्ठ 82.

में, जहां बेरोजगारों को दान का वितरण व्यावहारिक नहीं है, समता की दृष्टि से लाभ का शेष श्रम प्रधान तकनीकों के पक्ष में ही निश्चित रूप से निहित होता है फिर भी विकास की दृष्टि से ऐसी तकनीकों के अपनाने की कठिनाई कई छोटी यूनिटों से उपलब्ध बेशी की गतिशीलता में निहित होती है लेकिन यह एक संगठनात्मक समस्या है और इस बात की आवश्यकता है कि इसका सामना किया जाए।" (देखिए, पृष्ठ 113-114)।

इसलिए तुलनात्मक रूप से कामगारों की अधिक संख्या की छोटी बचतों के संगठन का प्रश्न है। पूंजी प्रधान उद्यमों की तुलना में श्रम प्रधान उद्यमों में कामगारों की बचतों की कुल राशि अपेक्षाकृत कम होती है किंतु यह तथ्य ठीक नहीं है।

'टैकनोलॉजिकल चौएस अंडर डवलपमैंटल प्लानिंग—ए स्टडी ऑफ स्मॉल स्टडीज ऑफ इंडिया' (पॉपुलर प्रकाशन, बंबई, 1963) में केदारनाथ प्रसाद ने एक अध्ययन किया है इसमें बचत और संवृद्धि की समस्या पर एक भाग दिया गया है (अध्याय 7, पृष्ठ 216-33)। इस अध्ययन में बचतों के उत्पादन के आमने-सामने तकनीकों की संगतता की जांच की गई है और यह प्रस्ताव किया गया है कि कुटीर उद्योगों के उत्पादक और विपणन प्रणालियों के उपयुक्त पुनर्संगठन से बचाने की उनकी शक्ति पैदा की जा सकती है और उस शक्ति को उपयुक्त ढंग से सशक्त किया जा सकता है। इसलिए यह अनुमान गलत है कि गरीब नहीं बचा सकता। भारत सरकार ऐसी पूंजी-संचयन की पद्धति संगठित करने में असफल रही है जिसमें गरीब भाग ले सके। ऐसी पद्धति के संगठन में असफलता के बाद अब उसका यह तर्क है कि उसके अनुमान की वैधता 'स्वयंसिद्ध' है लेकिन इस पर वाद-विवाद करना एक दुश्चक्र पैदा करना है।

जहां-जहां श्रम-प्रधान तकनीकें उपयोग में लाई जाती हैं वहां श्रमिकों के संबंध में जो तर्क दिया जाता है वह रद्द करने के लिए ही है। प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इतना अधिक बेरोजगार है कि हम समझ नहीं पाते कि उसका किस प्रकार समाधान किया जाए। किसी भी देश में श्रम का अभाव केवल उसी समय समस्या बनता है जब मानी गई तकनीकों के अन्तर्गत माना गया श्रम उन सभी वस्तुओं को पैदा नहीं कर सकता जिनकी देश को आवश्यकता होती है। जब कभी ऐसी प्रसन्नतादायक स्थिति पैदा होती है—यदि कभी होती भी है—तो हम अपनी अर्थव्यवस्था का एक भाग आसानी से श्रम बचाने वाली पूंजी प्रधान तकनीकों की ओर लगा सकते हैं।

जहां तक इस तर्क का संबंध है कि कुटीर उद्योग के उत्पादनों के लिए बाजार नहीं मिलता: इस देश के पुराने अभिलेख यह बताते हैं कि हमारे कामगारों की अंगुलियां इतनी अच्छी और कलात्मक वस्तुएं तैयार कर सकती हैं जितना कि कोई मशीन भी नहीं तैयार कर पाएगी। वास्तव में वे बहुत आसानी के साथ ग्राहकों की वैयक्तिक रुचियों की मांगों को पूरा करते हैं और उनमें इतनी अधिक अनुकूलता होती है कि जिनका मुकाबला मशीनें नहीं कर सकतीं।

वस्तुओं की उच्च गुणवत्ता के प्रमाण में भारतीय दस्तकार अच्छी वस्तुएं तैयार

करने के योग्य थे। हम सर थॉमस मुनरो के प्रशंसापत्र का उल्लेख कर सकते हैं। सर थॉमस मुनरो 1780 में एक युवक सिपाही के रूप में भारत आए थे और बाद में वे मद्रास के गवर्नर के रूप में 1820 से 1827 तक सेवा करते रहे। उन्होंने 7 वर्ष तक भारतीय शाल का उपयोग किया और इतने अधिक उपयोग के बाद भी उन्हें उस शाल में कोई अन्तर नहीं लगा। इंगलैंड में इन शालों की नकल करके शाल बनाए गए। उन्होंने 1813 में हाउस ऑफ कॉमन्स की कमेटी के समक्ष स्पष्ट रूप से यह कहा : "मुझे अभी तक कोई भी यूरोपीयन शाल कभी भी देखने को नहीं मिला है जिसका मैं उपयोग कर सकूं—चाहे मुझे यह शाल उपहार के रूप में ही भेंट क्यों न की जाए।"[7]

आज भी विश्व के कतिपय बाजारों में हमारे हथकरघा की बनी हुई वस्तुओं की मांग है जबकि हमारे मिलों की बनी हुई वस्तुओं की मांग वहां नहीं है।

कतिपय स्थानों में इस प्रकार की आशंका की गई है कि छोटी या कुटीर यूनिटों पर विशेष रूप से आधारित अर्थव्यवस्था देश को सैन्य-शक्ति की दृष्टि से कमजोर बना देगी और उसकी सुरक्षा तथा स्वतंत्रता को जोखिम में डाल देगी, यह तथ्य निराधार है। जापान में सैन्य शक्ति है जिसने एक शताब्दी के गत $\frac{3}{4}$ भाग से अधिक समय से अपने कारनामे दिखाए हैं लेकिन यह देश 1956 से ही अपनी औद्योगिक अर्थव्यवस्था का भारी उद्योग की ओर विशेष परिवर्तन दिखा सका है। उस समय से छोटी यूनिटों में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति को खोना प्रारंभ कर दिया है और अब सरकार की नीति में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है जिसके अनुसार पूरे रोजगार की उपलब्धि है। सामाजिक विचारों का स्थान आर्थिक विचारों ने ले लिया है और छोटी यूनिटों को अब प्रोत्साहित नहीं किया जाता है। लेकिन आज जो स्थिति है उसको देखते हुए 1978 में छोटी यूनिटें अधिकांशतया परिवार के श्रम पर आधारित थीं और देश भर के सभी व्यापार तथा औद्योगिक उपक्रमों का 99.3 प्रतिशत थीं और इनमें कुल श्रमिक दल के 70 प्रतिशत लोग काम पर लगे हुए थे (इनमें से औद्योगिक यूनिटों की संख्या 45 लाख थी और इनमें 250 लाख लोग काम पर लगे हुए थे।) यद्यपि यह एक अलग बात है कि कम उत्पादकता के कारण उनके उत्पादन का कुल मूल्य कुल राष्ट्रीय उत्पाद का केवल 45 प्रतिशत था।

अंत में जैसा कि पाठक ने स्वयं ही देखा है कि यह प्रस्ताव नहीं है कि मूलभूत अथवा भारी उद्योगों से दूर रहा जाए : जो भी उद्योग आवश्यक या अनिवार्य हैं वे कुटीर उद्योगों के साथ ही साथ बने रहेंगे। हम अपने देश के दीर्घकालीन हित की दृष्टि से कम से कम अपरिहार्य संख्या में भारी अथवा पूंजी प्रधान परियोजनाओं और उद्योगों को बनाए रखेंगे चाहे उनके पूंजी गुणांक और श्रम प्रधानता अर्थात् निवल मूल्य वृद्धि और लगाई गई पूंजी की प्रति यूनिट में रखा गया श्रम तुलनात्मक रूप से कम ही क्यों न हो। महात्मा गांधी भी इस विचार के प्रति उदासीन नहीं थे। उनका उद्देश्य यह नहीं था कि सभी मशीनों का उन्मूलन कर दिया जाए बल्कि वह इन मशीनों का परि-

7. 'द इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (1757-1837), रोमेशदत्त, पृष्ठ 266.

सीमन करना चाहते थे । यह हम पहले ही देख चुके हैं कि वह "बिजली, जहाज-निर्माण लोहे की वस्तुओं के निर्माण, मशीनों का निर्माण और इसी प्रकार के अन्य उद्यमों को ग्रामीण दस्तकारियों के साथ ही साथ पनपते हुए देखने को तैयार थे ।" स्पष्टतया उन्हें इस बात में कोई आपत्ति नहीं थी कि बड़े या भारी पैमाने पर रक्षा-उद्योगों का संगठन किया जाए। रक्षा-उद्योगों के नमूने के अन्तर्गत निहित उद्देश्य मुख्यतया सामाजिक या आर्थिक नहीं हो सकता। उनके संगठन और पूंजी की प्रधानता राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार से अधिकतर मानी जाएगी।

बिजली और लोहे की वस्तुओं के निर्माण के समान ही नाभिकीय ऊर्जा के विकास के लिए भारी उद्योग की आवश्यकता होगी जिसमें पूंजी और उत्पादन के अनुपातों का हिसाब असंगत होगा । भारत का विशेष रूप से यह सौभाग्य है कि यहां प्रचुर मात्रा में नाभिकीय शक्ति के खनिज संसाधन हैं जो समय के साथ-साथ इस देश के विशाल आर्थिक लाभ के लिए विकसित किए जा सकते हैं। "भारत में विश्व के सबसे अधिक थोरियम रिजर्व हैं जो विश्व के कुल यूरेनियम के रिजर्व के बराबर होते हैं। यूरेनियम के कई निक्षेप हमारे देश के कई भागों में खोजे गए हैं। जिन्हें अभी खोदकर सिद्ध करना है । बिहार में कई हजार टन यूरेनियम के निक्षेप का पहले ही पता लग चुका है ।"

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि गांधी जी के मतानुसार आज हमारे देश को जिस न्यूनतम और आवश्यक भारी उद्योग की आवश्यकता है उसे सरकार के ही हाथ में होना चाहिए लेकिन इसका पूर्णतया लाभ जनता को ही होना चाहिए। उन्होंने कहा, "मैं समाजवादी होने के नाते बहुत कुछ कह सकता हूं कि इस प्रकार के कारखानों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा उन्हें सरकार स्वयं नियंत्रित करे ।" यदि गांधी जी को हमारे सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों के प्रबंध करने की अकुशलता का पता होता, जैसा कि गत 25 वर्षों में स्पष्टतया दिखाई देता है, तो वह भारी उद्योग की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्रक में एक अपवाद के रूप में नहीं अपितु एक नियम के रूप में कराते । बाद में वस्तुतः वे इस निष्कर्ष पर आ गए कि भारी उद्योग जिसकी कि देश को आवश्यकता होगी, निजी हाथों में होने चाहिए लेकिन वे सरकार द्वारा नियंत्रित अथवा नियमित किए जाएं और यह स्थिति सार्वजनिक स्वामित्व की पद्धति की अपेक्षा अधिक बेहतर थी।

8. तीसरी योजना, पृष्ठ 196.
9. 'यंग इंडिया' में 13 नवंबर, 1924 को प्रकाशित महादेव देसाई का लेख।

22

उन्नत अथवा उपयुक्त तकनीकें

एक ओर हमारे पास श्रमिक दल है। यह केवल अधिक ही नहीं है अपितु बेकार भी है और हमारे पूंजी संसाधन बहुत कम हैं; दूसरी ओर अन्य अल्प विकसित देशों के समान हम ऐसी प्रौद्योगिकी का सामना कर रहे हैं जो पूंजी-निवेश की वृद्धि द्वारा प्रति कामगार उत्पादन को बढ़ाता है लेकिन श्रम को बचाता है। यह प्रौद्योगिकी विकसित देशों के अनुकूल होती है जिनमें ऊंची आय का लाभ है और इसलिए उनमें बचाने की उच्च क्षमता है। औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए लेकिन अधिक जनसंख्या वाले जैसे भारत, और कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था वाले देशों में, देश में कम आय और घरेलू बचतें बहुत कम होती हैं। यह प्रौद्योगिकी उपयुक्त नहीं है, यथा—ऐसे देशों में जहां पर्याप्त श्रम उपलब्ध है लेकिन पूंजी का अभाव है। हमारी समस्या यह है कि हम अपने ऐसे उत्पादन के तरीकों या तकनीकों को तैयार करें जो पूंजी की मितव्ययिता ला सकेंगी और प्रति कामगार के हिसाब से कम पूंजी की आवश्यकता होगी अपितु उनकी आवश्यकता नहीं होगी जो श्रम की बचत करती हैं अथवा उनमें निवेश की प्रति यूनिट के हिसाब से कम श्रम की आवश्यकता होगी। स्पष्टतया हमारी परिस्थितियों में हमारे लिए यह सुविधाजनक होगा कि उपलब्ध पूंजी को श्रम दल के छोटे भाग में अधिक सघनता से न लगाकर श्रम दल के बड़े भाग में लगाया जाए। जैसे हम कृषि में प्रति कामगार के हिसाब से उत्पादन बढ़ाने की अपेक्षा प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाते हैं, इसी प्रकार हम उद्योग में प्रति कामगार उत्पादन नहीं बढ़ाते हैं बल्कि निवेशित पूंजी की प्रति यूनिट के हिसाब से उत्पादन बढ़ाते हैं।

इसलिए देश भर में फैले हुए कुटीर और श्रम प्रधान उद्यमों में अभिनवीकरण अथवा प्रौद्योगिकियों को उन्नत करने के लिए विशेष ध्यान दिया जाना है, ताकि प्रति व्यक्ति उत्पादन बढ़ जाए—चाहे उपयोग में आने वाली पूंजी अधिक न हो।

इसका अर्थ यह है कि ग्रामीण उद्योगों के पक्षधरों को आधुनिक तकनीकों को

टालने के बजाय उनका स्वागत करना चाहिए और इन तकनीकों को आधुनिक उद्योग के साथ जोड़ना चाहिए। हथकरघा उद्योग ने आधुनिक कारखानों में तैयार किए गए सूती और सिन्थेटिक धागे का सफलता से प्रयोग किया है और उनके कपड़े बुने हैं, जिन्हें विश्व के बाजार में स्थान मिला है। इससे अधिक व्यापक निहितार्थ की शिक्षा मिलती है। गोबर गैस संयंत्र ग्रामीण समुदायों को जैव उर्वरकों को उपलब्ध कराने में भारी योगदान कर सकते हैं और उसकी गैस को ऊर्जा के संसाधन के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

जो औद्योगिक अनुसंधान में लगे हुए हैं वे अपने लिए ऐसी प्रौद्योगिकी ढूंढ निकालने में ध्यान लगा रहे हैं जिससे नवीन कुटीर आयोगों का विकास किया जा सकता है। स्विट्जरलैंड का घड़ी का उद्योग विकेन्द्रित उत्पादन का उत्कृष्ट उदाहरण है। अभी हाल में इलेक्ट्रोनिक्स उद्योग ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसे कुटीर उद्योग में विकसित किया जा सकता है। वर्धा स्थित ग्रामीण उद्योगों के लिए केन्द्रीय शोध संस्थान एक अन्य उदाहरण है जिसमें कुम्हार के चाक को इस डिजाइन से बनाया गया है कि उसमें बाल-बियरिंग लगे हुए हैं और इससे उत्पादन में ही दुगुनी वृद्धि नहीं हुई है अपितु मानव-श्रम को भी आधा कर दिया गया है।

वास्तव में अभी न जाने कितने विचार हैं जिन्हें खोजना है। घरों के बनाने में उदाहरणार्थ सीमेंट तथा इस्पात का स्थान बांस और ईंट ले सकती हैं।

महात्मा गांधी ग्रामीण उद्योगों और हस्तशिल्प के अग्रदूत रहे और वे इस बारे में अधिक स्पष्ट रूप से विचार करते थे। वह मशीनों के विरोधी नहीं थे अथवा उन्नत तकनीकों के प्रारंभ करने के विरोधी नहीं थे। उन्होंने एक बार कहा, "मुझे इस बात से आपत्ति है कि मशीनों के प्रति झक सवार हो जाय। मेरा मशीनों के लिए कोई विरोध नहीं है। यदि हम अपने गांव के घर-घर में बिजली ला सकें तो मुझे इसमें कोई एतराज नहीं होगा कि ग्रामीण बिजली की सहायता से अपने उपकरण और औजारों को चलाएं।" पन्द्रह वर्ष पूर्व उन्होंने कहा था, "मैं सबसे जटिल मशीनरी के उपयोग का समर्थन करता हूं। यदि इसके द्वारा भारत की बेकारी और उसके फलस्वरूप गरीबी को हटाया जा सके।"

गांधी जी मानव मात्र के हाथ में सौंपे गए आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के यंत्रों अथवा युक्तियों के प्रयोग के विरोधी नहीं थे जिनसे शारीरिक श्रम का भार हल्का हो सकता था अथवा नीरसता कम हो सकती थी। वास्तव में उनके विचार से कामगार की कुटिया में टेलीफोन की व्यवस्था भी की जा सकती थी, जिससे समय की बचत हो जाती है और शारीरिक श्रम बेकार नहीं जाता। हथकरघे के स्थान पर जों कुछ भी उपलब्ध था वह टेक्सटाइल मिल थी जिससे बेरोजगारी बढ़ती है, कामगारों के श्रम का शोषण किया जाता है तथा कुछ ही लोगों के हाथों में सम्पत्ति संकेन्द्रित होती जाती है लेकिन टेलीफोन का स्थान कोई अन्य वस्तु नहीं ले सकती सिवाय इसके कि आदमी स्वयं देखने जाय अथवा किसी माध्यम से सूचना भेजे, उसे उतनी दूर तक चलना था अथवा सवारी गाड़ी का उपयोग करना था।

एक मित्र ने एक बार गांधी जी से यह प्रश्न किया कि क्या कि वह रेल के स्थान पर बैलगाड़ियों का उपयोग करना चाहेंगे और यदि वे ऐसा नहीं करना चाहते तो वह यह कैसे आशा करते हैं कि मिलों के स्थान पर कताई के चर्खे को स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने इस संबंध में लिखा :

"मैंने उनसे कहा कि मैं रेल के स्थान पर बैलगाड़ियों के उपयोग का पक्षपाती नहीं हूं, क्योंकि मैं स्वयं ऐसा नहीं कर सकता — चाहे मेरी इच्छा ही क्यों न हो। 30 करोड़ बैलगाड़ियां दूरियों को पार नहीं कर सकतीं। परन्तु मैं मिलों के स्थान पर चर्खे का उपयोग पसन्द करूंगा। रेल ने गति के प्रश्न का समाधान किया है। मिलों के साथ उत्पादन का प्रश्न है जिनमें चर्खे आसानी से प्रतियोगी हो सकते हैं यदि चर्खे चलाने वाले अनेक लोग हों और भारत में ऐसे लोगों का अभाव नहीं है।" (देखिए, 'यंग इंडिया', 28 मई, 1925)

फिर से विचार किया जाय; उत्पादन तकनीकों का वैज्ञानिक अध्ययन अभी तक लगभग पूर्णतया पश्चिमी देशों तक सीमित है, जहां मुख्य उद्देश्य यह है कि श्रम लागतों को कम कर दिया जाय बजाय इसके कि पूंजी लागतों को कम किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश में जहां अधिकांश उपकरण पश्चिमी डिजाइन के तैयार किए गए हैं और औद्योगिक इंजीनियरों को भी अधिकांशतया पश्चिम में प्रशिक्षण दिया गया है, छोटे पैमाने के उद्योग की उन्नत तकनीकें उच्च मजदूरियों और सस्ती पूंजी पर आधारित हैं। इसलिए यदि भारत को अपने संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग करना है तो भारत के इंजीनियरों को तकनीकों और साज-सामान के उत्पादन में इस प्रकार के अनुसंधान करने होंगे जो हमारी कम मजदूरियों और महंगी पूंजी की दशाओं के उपयुक्त हों। उन्हें स्थानीय संसाधनों और कार्य-कुशलता पर विश्वास करना होगा और उन्हें केवल पश्चिम का अनुकरण नहीं करना होगा। हमारे इंजीनियर इस कार्य में किसी से कम सिद्ध न होंगे यदि वे अपने कार्य में विशेष रूप से लगा दिए जाएं और सरकार भी उस समस्या को सर्वोच्च प्राथमिकता दे और शोध संस्थाओं तथा विश्वविद्यालय के विज्ञान-विभागों के लिए मार्गदर्शन निर्धारित कर दिया जाय। इस बात पर विचार करते हुए कि विश्व में हमारे वैज्ञानिकों और तकनीशियनों की अधिकांश संख्या की दृष्टि से तीसरा या चौथा स्थान है, फिर ऐसा कोई कारण नहीं है कि इन समस्याओं के समाधान न खोज लिए जायं।

अतः एक तरह से यह कहा जा सकता है कि इस स्थिति पर फिर से विचार कर लिया जाय जिसका भारत सामना कर रहा है। भारत श्रम की दृष्टि से धनी है परन्तु भौतिक संसाधनों की दृष्टि से गरीब है। यह इसके लिए एक नई आर्थिक समस्या है। इस समस्या को सुलझाने के लिए नए तकनीकी तरीका की आवश्यकता है। **विशिष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि समस्या यह है कि नए प्रकार के उद्योग का विकास किस प्रकार किया जाय जो वर्तमान कुटीर और दस्तकारी उद्योगों से नितांत भिन्न हो और वर्तमान बड़े पैमाने के कारखाने व उद्योगों से भी अलग हों—एक ऐसा**

प्रकार खोजा जाय जो एक जैसे पूंजी-निवेश से एक ही समयावधि में प्रति कामगार अपेक्षाकृत अधिक वस्तुएं निर्मित कर सके (जबकि इससे पूर्व इतनी वस्तुओं का निर्माण नहीं हो पाता था) और अधिक रोजगार की व्यवस्था की जा सके।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आवश्यकता ऐसे तरीकों और साज-सामान के लिए है जो इतने सस्ते हों कि वे वस्तुतः सभी को उपलब्ध हो सकें और इसलिए छोटे पैमाने के उद्योगों के लिए अनुकूल हों अतः हम बृहद् उत्पादन के स्थान पर आम जनता के लिए उत्पादन कर सकें और सृजनात्मकता के लिए आदमी की आवश्यकता के लिए संगत हो सकें।

अभी तक प्रौद्योगिकी ही ऐसी है जिसने संयंत्र के आकार और उसकी कार्यकुशलता के मध्य अधिकांशतया संबंध निर्धारित किया है। उच्च प्रौद्योगिकी का अर्थ यह है कि अपेक्षाकृत अधिक कार्यकुशलता के साथ अपेक्षाकृत बड़े संयंत्र हैं जिनसे प्रति कामगार अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन होता है। लेकिन महज सिद्धांत की दृष्टि से विज्ञान और प्रौद्योगिकी मुख्य रूप से आकार अथवा आकृति से संबंधित नहीं हैं; और न किसान के प्रति कोई उलझन पैदा की जा सकती है और न उसे प्रौद्योगिकी के समान समझा जा सकता है। भाग्यवश आर्थिक संवृद्धि के प्रति घनी जनसंख्या द्वारा चुनौती को पूरा करने के लिए आज औद्योगिक सुधार बड़े पैमाने के कार्यों की अपेक्षा छोटे पैमाने के कार्यों को प्रोत्साहित कर रहे हैं जिससे पूंजी में केवल छोटी-सी वृद्धि से उत्पादन में काफी अधिक वृद्धि हो जाती है अथवा परस्पर संबंध रखते हुए बहुत कम पूंजी के साथ उतना ही उत्पादन होता है।

हमारे वैज्ञानिकों को यह बात ध्यान में रखकर आगे बढ़ना होगा कि यदि राष्ट्र को जीवित रखना है तो वे पश्चिम के सामाजिक-आर्थिक ढांचे का अनुसरण नहीं कर सकते। इसके अलावा विज्ञान अथवा उच्च प्रौद्योगिकी भी उसकी उन्नति के मार्ग में अवरोध नहीं हो सकती। यदि वे संघर्ष करें और परिश्रम करें तो वे ऐसी प्रौद्योगिकी का आविष्कार कर लेंगे जहां श्रम की अधिकता है, प्राकृतिक संसाधन कम हैं और कतिपय परम्पराएं विद्यमान हैं, यथा—जाति प्रथा। इन सभी को दूर करना होगा और उन सभी को अपनाना होगा जिन्होंने शताब्दियों से हमारा स्थान बनाया है, उदाहरणार्थ संयुक्त परिवार पद्धति। इन्हें सुरक्षित किया जाना है।

इसलिए नवीन, उन्नत अथवा उपयुक्त प्रौद्योगिकी को उन सभी लक्ष्यों की यथासंभव पूर्ति करनी है जो इस प्रकार हैं:

(क) इसमें उत्पादन की प्रति इकाई के हिसाब से पूंजी के उपयोग को कम से कम करना है अथवा इसके विपरीत, मानी गई निवेश की यूनिट के हिसाब से अधिकाधिक उत्पादन का लक्ष्य बनाना है;

(ख) निवेश की प्रति इकाई के हिसाब से अधिकतम रोजगार की खोज की जानी है;

(ग) इसका उद्देश्य यह होना चाहिए कि हमारे देश, क्षेत्र या गांव में स्थानीय

प्रतिभाओं, कच्चे माल और उपलब्ध संसाधनो का विशेषकर नवीकृत रूपों में अधिकतम उपयोग हो सके;

(घ) इसमें ऊर्जा उपभोग को न्यूनतम करना चाहिए;

(ङ) इसको पर्यावरण के प्रदूषण को कम करना चाहिए और प्रकृति में जलवायु संबंधी संतुलन को बनाए रखना चाहिए।

यहां यह कहना भी आवश्यक है कि नवीन प्रौद्योगिकी की खोज अथवा आविष्कार का उद्देश्य मानवमात्र की मूलभूत आवश्यकताओं की व्यवस्था करना है अथवा इन मूलभूत आवश्यकताओं में से किसी एक या इससे अधिक आवश्यकताओं की व्यवस्था करने में सहायता देना है। इन मूलभूत आवश्यकताओं में खाद्यान्न, पीने का जल, कपड़ा, आश्रय, स्वास्थ्य/चिकित्सीय देखभाल और इसी प्रकार की अन्य सुविधाएं हैं और इन्हें इतनी कम लागत पर उपलब्ध कराना है कि ये आम आदमी की पहुंच में हों। यह आदमी ऐसा है जो आज भी गरीबी रेखा के नीचे अपना जीवन निर्वाह कर रहा है।

कर्नाटक के राज्यपाल के सचिव श्री एन० पी० सिंह ने लेखक को 19 मार्च, 1979 को एक पत्र लिखा। उस पत्र में उन्होंने कहा : "इस प्रसंग में उपयुक्त प्रौद्योगिकी की संकल्पना केवल औद्योगिक क्षेत्रक तक ही सीमित नहीं रखनी चाहिए अपितु इसका विस्तार कृषि, आवास, स्वास्थ्य और स्वच्छता तक भी होना चाहिए तथा वास्तव में इसका विस्तार मानवीय जीवन-शैली के अन्य सभी पक्षों और कार्यकलापों तक होना चाहिए। हमारे देश की ग्रामीण जनसंख्या की अधिकता, ग्रामीण क्षेत्रों से संबंधित समस्याओं की पहचान, विशेष रूप से छोटे और सीमान्त किसानों, ग्रामीण कारीगरों और दस्तकारों तथा भूमिहीन मजदूरों की समस्याओं की पहचान तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रयोग द्वारा उनके समाधान खोजने के प्रयत्न स्पष्टतया हमारा विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं और इस संबंध में सहायता चाहते हैं। इस उद्देश्य के लिए भारत में विशेष क्षेत्रों की निदर्शी सूची में प्राथमिकता के आधार पर जिन मदों को शामिल किया गया है वे इस प्रकार हैं :

(क) छोटे फार्म की प्रौद्योगिकी;

(ख) कृषि औजार उपकरण;

(ग) जल प्रबंध प्रणालियां (सिंचाई और पीने की दृष्टि से);

(घ) कम लागत लेकिन उन्नत बीज, उर्वरक और उपयोग के लिए कीटनाशक दवाइयां;

(ङ) फसल के बाद की प्रौद्योगिकी (जिसमें अनाज का भण्डारन और जन्तु-बाधा समस्याएं शामिल की गई हैं);

(च) अनाज और दालों का प्रक्रमण;

(छ) फलों और सब्जियों आदि का निर्जलन और संरक्षण;

(ज) उन्नत पशुपालन, मुर्गीपालन और डेरी फार्मिंग की तकनीकें;

(झ) ऊर्जा प्रणालियों में सौर ऊर्जा, वायु शक्ति और बायो-गैस संयंत्र (दोनों ही सामुदायिक और परिवार के आकार में);
(ञ) गांवों में परिवहन प्रणालियां (बैलगाड़ियों के सुधार को सम्मिलित करके);
(ट) कम लागत की भवन निर्माण की तकनीकें और सामग्री;
(ठ) गांवों/नगरों में उन्नत स्वच्छता प्रणालियां;
(ड) कम खर्चीली चिकित्सीय और स्वास्थ्य संबंधी देखभाल ('आयुर्वेदिक', 'यूनानी', 'होमियोपैथिक' और 'एलोपैथिक' पद्धतियों को शामिल करके); यह आवश्यक होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक आधारों पर चिकित्सा की विभिन्न देशी पद्धतियों में शोध के कार्यक्रम प्रारंभ किए जायं;
(ढ) असाक्षरता के हटाने और वृत्तिमूलकता के प्रसार आदि के लिए शैक्षिक प्रौद्योगिकी। जनता में आत्म-निर्भरता की तकनीकी कार्यकुशलता और प्रवृत्तियों के लिए आवश्यक विकास के संबंध में विशेष जोर दिया गया है;
(ण) टैक्सटाइल प्रौद्योगिकी (खादी, हथकरघा और रेशम उत्पादन को शामिल करते हुए);
(त) गुड़, खंडसारी और चीनी का तैयार किया जाना;
(थ) चमड़ा-शोधन, जूतों का तैयार किया जाना, मृत्कला, भाण्डकर्म, बढ़ईगीरी और अन्य देहाती उद्योगों, कलाओं और दस्तकारियों से संबंधित समस्याएं;
(द) विविध कृषि पर आधारित और वन पर आधारित उद्योग;
(ध) कृषि मशीनरी, औजार आदि की मरम्मत के लिए ग्रामीण इंजीनियरी वर्कशाप आदि; और
(न) मानवीय, पशु और वनस्पति की बेकार वस्तुओं आदि का उपयोग और उनका पुनर्चक्रण।"

यह बात स्थापित मानी जाती है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी को छोटी मशीनों में भी उपयोग किया जा सकता है और ऐसी मशीनों के लिए अपेक्षाकृत कम पूंजी की आवश्यकता होती है, फिर भी यह प्रश्न उठता है कि क्या उसमें अपेक्षाकृत अधिक रोजगार की उपलब्धि हो सकेगी अथवा कम से कम पूंजीपति द्वारा उसका शोषण न हो सकेगा अथवा बेरोजगारी नहीं बढ़ेगी। फिर भी, शोधकार्य से कोई नया आयाम नहीं खुलता तो हम कतिपय पूंजी-प्रधान स्वचालित मशीनों की तुलना में हाथ द्वारा चालित औजारों में काम पर लगाई गई विशाल मानव-शक्ति को प्राथमिकता देना चाहेंगे। मशीनों से वांछित वस्तुओं की मात्रा का उत्पादन हो सकता है किन्तु इससे पूंजीवाद द्विगुणित होगा तथा अनेक लोग बेरोजगार हो जायेंगे।

इस मामले में अर्थात् शोध की असफलता के मामले में कोई मार्ग खोजना है

जैसा कि गत पृष्ठों में कहा गया है, देश को कम पूंजी प्रधान (कृषि और) दस्त-कारियों और छोटे पैमाने के विकेन्द्रित उद्योगों पर जोर देना होगा और बराबर जोर दिया जाता रहेगा। इनसे औद्योगिक अर्थव्यवस्था का मुख्य रूप बनेगा। जनता की आय में वृद्धि होने के साथ-साथ औद्योगिक वस्तुओं की मांग में भी वृद्धि हो जाएगी। यदि इस अवस्था में देश में बेरोजगार कामगार हैं तो सरकार को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि वर्तमान तकनीक न बदली जाय, ताकि अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो सके, अथवा आवश्यक मात्रा की वस्तुओं का उत्पादन हो सके और अपेक्षाकृत अधिक लोग काम पर लगाए जा सकें। परन्तु यदि पूरा रोजगार पहले ही अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है तो सरकार को वर्तमान तकनीकों के स्थान पर उन्नत तकनीकों में बदले जाने की अनुमति देनी होगी ताकि मौजूदा कामगार अपेक्षाकृत अधिक वस्तुओं का निर्माण कर सकें। और फिर इस बात के दुहराने की आवश्यकता है कि जैसे-जैसे आय बढ़ती जाती है, अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे पूंजी की उपलब्धता कामगारों की संख्या से अधिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है, वैसे-वैसे तकनीकों में अधिकाधिक सुधार करने की आवश्यकता होगी।

23

न्यासिता

बड़े पूंजी प्रधान उद्योगों, चाहे वे संख्या में कितने ही कम क्यों न हों, के स्वामित्व और प्रबंध का प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है और जिसे राष्ट्रीय हित में हमें खोजना ही होगा। न्याय की यह मांग है कि इन उद्योगों के मालिकों को वे सभी लाभ प्राप्त नहीं होने चाहिए जो उन्हें उनके उपक्रमों से प्राप्त होते हैं। क्योंकि ये लाभ अन्य कारकों के साथ पूंजी लगाने से प्राप्त होते हैं और अन्ततः विश्लेषण करने से यह विदित होता है कि ये लाभ देश की कुल श्रम शक्ति के कठोर शारीरिक परिश्रम का भी परिणाम हैं और ये लाभ देश के सतत उन्नतिशील ज्ञान या विज्ञान की कुल मेधावी शक्ति के फल हैं।

कार्ल मार्क्स के दिनों से सार्वजनिक स्वामित्व पर विचार किया गया है और विभिन्न देशों में विभिन्न मात्रा में इस पर कार्रवाई की गई है क्योंकि यही निजी स्वामित्व का विकल्प है। परन्तु पाठक ने पहले ही गत पृष्ठों में यह देख लिया है कि हमारे देश में यह विकल्प किस व्यावहारिक रूप से काम कर पाया है। एक मार्ग के रूप में गांधीजी ने एक ओर वर्तमान न्यूनतम राज्य स्वामित्व और दूसरी ओर शेष पूंजी प्रधान अर्थव्यवस्था, जिस पर न्यासिता का सिद्धांत लागू होता है, के मध्य समझौता किए जाने पर विचार किया था।

न्यासिता के सिद्धांत के अन्तर्गत उद्योगपतियों को उनके अधिकार की सम्पत्ति का स्वामित्व छोड़ने के लिए राज़ी किया जाएगा लेकिन वे अपनी सम्पत्ति का प्रबंध अपने हाथ में रख सकते हैं, सम्पत्ति बढ़ाने के लिए अपनी प्रतिभा का उपयोग कर सकते हैं। ऐसा अपने लिए न करके वे राष्ट्र के हित में कर सकते हैं और इसलिए उसमें कोई शोषण की गुंजाइश नहीं होगी। सरकार उस कमीशन की दर को नियमित करेगी, जो उन्हें मिलेगा। यह कमीशन की दर उनकी सेवा तथा समाज के मूल्य के अनुरूप होगी। उनके बच्चे प्रबंध की बागडोर अपने हाथों में संभाल सकेंगे यदि

वे इस कार्य के योग्य हों।

इसका उद्देश्य यह था कि प्रबंध की पद्धति बना ली जाय और उद्योग पर नियंत्रण किया जाय और इसमें श्रमिक, उपभोक्ता, कच्चे माल की आपूर्ति, आस-पास रहने वाली जनता, सामान्य रूप से समाज और शेयरधारियों के हित का हिसाब भी रखा गया है लेकिन यह मालिकों अथवा प्रबंधकों की विशेषज्ञता खोए बिना अथवा उत्पादन-वृद्धि के प्रोत्साहन को गंवाए बिना प्राप्त की जाएगी।

फिर भी इस यथार्थवादी विश्व में यह संभव नहीं है कि स्वामियों को इस बात के लिए राजी कर लिया जाय कि वे केवल उदारतापूर्वक अपने उद्योग के प्रभावकारी नियंत्रण को त्याग दें और वे इसे राष्ट्रीय कर्त्तव्य की भावना से छोड़ दें। इस प्रयोजन के लिए गांधीजी कानून बनाने पर विचार करने के लिए उद्यत थे। गांधीजी ने 31 मार्च, 1946 को कहा, "यह मान लिया जाय कि हमारा देश कल ही आजाद हो जाता है, तो सभी पूंजीवादियों को यह अवसर मिलेगा कि वे कानूनन न्यासधारी हो जायं···वस्तुत: मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि सम्बन्धित लोग न्यासधारियों के रूप में व्यवहार करते हैं लेकिन यदि वे इस कार्य में असफल रहे तो मुझे विश्वास है कि हम सरकार की न्यूनतम सजा द्वारा उन्हें उनके आधिपत्य से वंचित करा देंगे। यही कारण था कि मैंने गोलमेज सम्मेलन (1932) में कहा था कि प्रत्येक निहित स्वार्थ की परीक्षा की जांच की जानी चाहिए और उसके जब्ती किए जाने के आदेश दिए जाने चाहिए। जहां कहीं भी आवश्यक हो और जैसी भी स्थिति की मांग हो उसके अनुसार प्रतिकर सहित अथवा प्रतिकर रहित मामले का निपटान करना चाहिए।"

प्रोफेसर दांतवाला ने न्यासिता के संबंध में एक प्रारूप तैयार किया था। इस प्रारूप पर किशोरी लाल मशरूवाला, नरहरि पारिख और प्यारेलाल के बीच चर्चा की गई तथा बाद में गांधीजी ने इस प्रारूप पर अपना अनुमोदन किया। इस राजनीतिक न्यासिता के मुख्य लक्षणों को सारांश रूप में छः सूत्रों में इस प्रकार कहा जा सकता है :

1. न्यासिता समाज की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था में परिवर्तित करने का एक साधन उपलब्ध कराती है। इसमें 'पूंजीवाद का कोई स्थान नहीं है' बल्कि वर्तमान स्वामित्व वर्ग को अपनी दशा सुधारने का एक अवसर दिया जाता है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानवीय प्रकृति कभी भी प्रायश्चित से परे नहीं है;
2. इसमें सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के किसी भी अधिकार को मान्यता नहीं दी गई है, सिवाय इसके कि समाज स्वयं अपने कल्याण के लिए चाहे जो कुछ करे;
3. इसमें स्वामित्व और सम्पत्ति के उपयोग के लिए विधायकी नियमन को नहीं छोड़ा गया है;

4. सरकार द्वारा नियमित न्यासिता के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अथवा समाज के हितों की अवहेलना करने के लिए उस सम्पत्ति पर अधिकार करने अथवा उसका उपयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा;
5. जैसा कि अभी हाल ही में यह प्रस्ताव किया गया है कि पर्याप्त और न्यूनतम जीवन-निर्वाह की मजदूरी को नियत कर दिया जाय, अतः अधिकतम आय की सीमा भी निर्धारित की जानी चाहिए, जो समाज के किसी व्यक्ति को दी जा सकती है। इस न्यूनतम और अधिकतम आय का अन्तर समय-समय पर न्यायसंगत और समतापूर्ण होना चाहिए ताकि ऐसी प्रवृत्ति हो जाय कि अन्ततोगत्वा यह अन्तर बिल्कुल ही समाप्त हो जाय; और
6. गांधीवादी आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन का प्रकार सामाजिक आवश्यकता के अनुसार निर्धारित किया जाएगा, न कि किसी व्यक्तिगत झक या लोभ द्वारा निर्धारित किया जाएगा।[1]

स्वर्गीय डॉ० राम मनोहर लोहिया ने 1964 में न्यासिता विधेयक का प्रारूप तैयार किया ताकि इस विषय पर गांधी जी के विचारों को विधिक रूप दिया जाय। इस विधेयक के उपबंध केवल बड़ी-बड़ी कम्पनियों पर ही लागू किए गए थे क्योंकि गांधीजी ने सरकारी स्वामित्व के उन उद्योगों का समर्थन किया था जिनमें असंख्य कामगार काम पर लगाए जाते हैं। इस विधेयक के अन्तर्गत मध्यम और छोटे प्रकार के उद्योग नहीं आते। दूसरी ओर इस विधेयक में उन व्यक्तिगत उद्यमकर्ताओं को सहायता देने की व्यवस्था भी की गई थी जो न्यासिता की भावना से मध्यम या छोटे पैमाने के व्यापार प्रारंभ कर सकें। डॉ० लोहिया के विधेयक के प्रत्येक खंड में गांधीजी द्वारा की गई संगत टिप्पणियों को आधार बनाया गया था जो उन्होंने अपने लेखों और भाषणों में कहा था।

डॉ० लोहिया के विधेयक में यह व्यवस्था की गई थी कि उद्योग, वृक्षारोपण, खान, व्यापार, परिवहन की बड़ी-बड़ी कम्पनियों को स्वेच्छा से न्यास निगमों में परिवर्तित कर दिया जाय। इस विधेयक में न्यास निगमों के कुल व्यापार के लोकतांत्रिक प्रबंध की विस्तृत योजना दी गई थी। वर्तमान प्रबंध करने वाले एजेंट प्रबंध करने वाले न्यासधारी होंगे लेकिन उन पर ऐसी पंचायतों का नियंत्रण होगा जिनमें कामगारों और समुदाय के प्रतिनिधि होंगे। इस विधेयक में पंचायत के चुनाव और कार्यों, प्रबंध करने वाले न्यासधारियों के पारिश्रमिक, प्रथम प्रबंध करने वाले न्यासधारी के उत्तराधिकार, निरीक्षण करने वाले कर्मचारियों का वेतन, कामगारों की मजदूरियां, लाभों का आवंटन, बोनस का भुगतान, अनुशासन का आरोपण, राष्ट्रीय योजनाओं के साथ समन्वय, लेखाओं

1. गांधी, एम० के०, 'ट्रस्टीशिप', अहमदाबाद, नव-जीवन 1960, पृष्ठ 49.

की जांच और अन्य मामलों के बारे में उपबंध दिए गए थे। प्रथम प्रबंध करने वाले न्यासधारी के पारिश्रमिक को निर्धारित करते समय इस बात पर भी विचार किया जाता था कि वह व्यक्ति किस प्रकार के रहन-सहन का आदी है। शहरी कामगारों की मजदूरियों को ग्रामीण कामगारों की आय के समान ही होना था।

यद्यपि यह विधेयक स्वैच्छिक था और कोई भी उसके प्रति बाध्य नहीं था। इसमें निजी स्वामित्व को न्यास के स्वामित्व में परिवर्तित करने का कार्य पूर्णतया पूंजी की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ा गया था। इस विधेयक के खंड 30 में कामगारों को यह अधिकार दिया गया था कि वे अहिंसा और असहयोग द्वारा इस प्रकार का परिवर्तन लाएं और उन्हीं संस्थाओं के स्वामी बन जाएं जिनमें वे काम कर रहे थे। इस प्रकार के स्वामित्व ने कामगारों को ऐसा उत्तरदायी बना दिया कि वे उत्पादकता के साथ अपनी मजदूरियों का सम्बन्ध रखते थे।

जनता पार्टी ने मार्च, 1977 में कांग्रेस पार्टी के 30 वर्षों के शासन के बाद भारत सरकार की शासन-सत्ता अपने हाथ में ली। जनता पार्टी औपचारिक रूप से न्यासिता के नियम में विश्वास करती थी। इस पार्टी के संविधान में यह कहा गया था कि "जनता पार्टी गांधीवादी विचारों के अनुसार भारत में लोकतांत्रिक धर्म-निरपेक्ष और समाजवादी सरकार बनाने के लिए समर्पित है।" नवम्बर, 1977 में पार्टी के कार्यकारी दल ने आर्थिक नीति के वक्तव्य को स्वीकार किया जिसमें यह घोषणा की गई थी कि "जनता पार्टी ऐसी अर्थव्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहेगी जिससे यह सुनिश्चित हो जाएगा कि निजी संपत्ति भी गांधीजी द्वारा समर्थित न्यासिता की संकल्पना के अनुसार आम कल्याण के लिए उपयोग की जा सकेगी।"

लेकिन यह पार्टी वास्तव में ऐसा विश्वास नहीं रखती थी जैसाकि उसने कहा था और इस पार्टी ने अपने 28 महीने के शासनकाल में अपनी कथनी को करनी का रूप देने का कोई प्रयत्न नहीं किया : कोई भी प्रयोग साहसपूर्वक सम्पन्न नहीं किया गया।

24

स्वयं-रोजगार का मध्य मार्ग

आज हमारी औद्योगिक अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था है। इसमें दो क्षेत्रक हैं—एक निजी, दूसरा सार्वजनिक। निजी क्षेत्रक पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व करता है और इसमें उच्च प्रकार की प्रगतिशील कर-प्रणाली की आवश्यकता होती है तथा इसमें कर की आमदनी को उन परियोजनाओं पर सार्वजनिक रूप से व्यय करने के लिए तथा अन्य आवश्यकताओं को सीधा ही परिवर्तित कर दिया जाता है ताकि धनी लोगों की अपेक्षा गरीबों को अधिक लाभ मिल सके। परन्तु प्रति व्यक्ति आय बहुत कम होती है और कुल राष्ट्रीय आय बहुत ही असंगत रूप से वितरित की जाती है तथा कर का आधार बहुत ही संकीर्ण होता है। इसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष कर बहुत कम प्रगतिशील होते हैं तथा बड़े पैमाने पर अप्रत्यक्ष कर आवश्यक हो जाते हैं लेकिन जब एक उच्च प्रगितशील कर-पद्धति उद्यम और निवेश को हतोत्साह करती है तो इस प्रकार आर्थिक प्रसार कम हो जाता है और अप्रत्यक्ष करों का अपकर्ष हो जाता है अर्थात् करारोपण का भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा गरीब लोगों पर अधिक पड़ता है और यह स्थिति भारत में व्यापक रूप से लागू है और इससे देश भर में उत्पादन की लागत बढ़ जाती है।

जहां तक सार्वजनिक क्षेत्रक के समाजवाद (मार्क्स के अनुसार) अथवा (हम इसे साम्यवाद कहेंगे) के प्रतिनिधित्व का सम्बन्ध है जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उसका कार्य घोर निराशाजनक है। इसमें करारोपण का प्रश्न नहीं उठता लेकिन इसमें कुछ अथवा नगण्य बेशी मिलती है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से गरीबों और कम रोजगार प्राप्त लोगों के लिए परिवर्तित कर दी जाती है अथवा परियोजनाओं में उनका निवेश कर दिया जाता है जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगी। इससे भारत के किसी अन्य मॉडल को भी सहायता नहीं मिल सकती क्योंकि साम्यवादी देशों ने विषम असमानताओं को मिटा दिया है लेकिन उन्हें वैयक्तिक स्वतंत्रता और

पहल-शक्ति के रूप में भारी कीमत चुकानी पड़ी है।

इतिहास हमें यह बताएगा कि स्वतंत्रता और समता घोर और सदैव के लिए दुश्मन हैं : जब एक का आधिपत्य होता है तो दूसरा मर जाता है या बिल्कुल ही गायब हो जाता है। आदमियों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो उनकी स्वाभाविक असमानताएं लगभग ज्यामितीय ढंग से द्विगुणित हो जाएंगी। इसका परिणाम यह होगा कि एक ऐसी स्थिति आ जाएगी जहां कुछ ही धनी व्यक्तियों की योग्यता की शक्ति कई गरीब लोगों की शक्ति का सामना कर उठेगी। इसके बाद अस्थायी संतुलन विषम परिस्थिति उत्पन्न कर देगा। स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए एक अलग ढंग स्वीकार करना होगा। कानून द्वारा सम्पत्ति का पुर्नवितरण करना होगा और करारोपण, कर तथा कीमत-निर्धारण की नीतियों को भी कानून द्वारा बदलना होगा—उदाहरणार्थ ऐसा पश्चिम में इंगलैण्ड व अमरीका में और पूर्व में जापान में हुआ—आदमियों को समान बनाना होगा (जबकि वे समान रूप में पैदा नहीं होते) बल्कि क्रांति के द्वारा स्वतंत्रता का बलिदान करना होगा जैसाकि 1917 में रूस ने और 1949 में चीन ने किया।

इस प्रकार समान रूप से वितरण और पूर्ण रोजगार के उद्देश्य को प्राप्त करना तभी सरल हो सकता है जब स्वतंत्रता या लोकतंत्र को त्याग दिया जाय। लोकतंत्र को बनाए रखना आसान है यदि स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया जाय। अधिकांशतया इसका कारण यह है कि समता, रोजगार और लोकतंत्र को एक साथ प्राप्त करना बहुत कठिन है। हमारे देश के कुछ लोग इस बात के लिए तैयार हैं कि समतावाद को त्याग दिया जाय और कुछ अन्य व्यक्ति लोकतंत्र को त्यागने के लिए उद्यत हैं लेकिन भारतीय आर्थिक नीति एक ही समय में इन सभी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करेगी। इसलिए भारत के लिए यह आवश्यक है कि इन दो विरोधी रूपों के लिए किसी विकल्प का विकास किया जाय। ये दो विरोधी रूप इस प्रकार हैं : (i) पूंजीवाद लोकतंत्र जैसा कि मूलतः पश्चिमी देशों में विकसित हुआ था और (ii) लोकतांत्रिक केन्द्रवाद जैसाकि साम्यवादी राज्यों में क्रियात्मक रूप से अपनाया जाता है।

एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में व्यावहारिक रूप से योग्यता में अन्तर होता है इसलिए संचय करने में सदैव असमानताएं रहेंगी—चाहे स्वतंत्रता का कितना ही दमन क्यों न किया जाय। रूस के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि आदमी और आदमी के बीच नितांत समानता का प्रश्न अवास्तविक है जो लोग अपनी बुद्धि अथवा योग्यता से असमान होते हैं वे भले ही लंबे समय में सरकार की कार्रवाई से शक्ति अथवा सम्पत्ति में बराबर भी बना दिए जायं फिर भी वे बराबर नहीं हो सकते। मनुष्य के गुण अंशतः अन्तर्जात होते हैं और अंशतः वातावरण का परिणाम होता है अथवा सीखने की प्रतिक्रया से उत्पन्न होते हैं। समाजवादियों ने यह विश्वास किया कि ऐसे प्रतिकूल वातावरण को बदला जा सकता है जिसमें किसी कामगार के बच्चे रह रहे हों, तो वे बच्चे भी अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने में समर्थ होंगे और अपनी क्षमताओं व रुचियों में भी विकसित हो जाएंगे परन्तु जहां तक बुद्धि-लब्धि की किसी न्यूनाधिकता को उत्पत्ति का लक्षण मान लिया जाय—और किसी ने भी यह नहीं कहा

है कि उत्पत्ति बिल्कुल मानी ही नहीं जाती---तो बुद्धि में अन्तर भी बना रहेगा अर्थात् कोई भी प्रतिपूरक शिक्षा अथवा वातावरण के कारक की समता से प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि समान नहीं होगी। इसलिए इस वाद-विवाद का अन्त अपने में एक ऐसे प्रश्न से हो जाता है कि क्या बुद्धि-लब्धि से वातावरण की अपेक्षा वंशानुगत के अधिक लक्षण हैं अथवा क्या इसके विपरीत स्थिति है। लेखक प्रथम विचार के पक्ष के समर्थक हैं।

महात्मा गांधी ने एक बार कहा था : "बच्चे अपने माता-पिता के गुण उसी प्रकार प्राप्त कर लेते हैं जैसे कि वे उनकी आकृति की विशिष्टताओं को भी अपनाते हैं। वातावरण एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है लेकिन मूल पूंजी जिस पर बच्चा अपना जीवन प्रारम्भ करता है, अपने पूर्वजों से विरासत में प्राप्त करता है।"[1]

इसलिए किसी व्यक्ति के आर्थिक जीवन के चयन अथवा परिचालन के संबंध में वैयक्तिक स्वतंत्रता की संगतता के लिए जो कुछ हम कर सकते हैं और जिसके करने की आवश्यकता है वह सर्वप्रथम जहां कहीं भी सुविधाजनक हो, वहां दोनों ही वर्तमान सम्पत्तियों तथा भावी प्राप्तियों अथवा आय पर विशिष्ट करारोपण द्वारा और अन्य साधनों के माध्यम से जो भी संभव हो भौतिक सीमाओं के अरोपण द्वारा आर्थिक शक्ति पर कटौती अथवा परिसीमन किया जाना, है और दूसरी तकनीकों को विनियमित अथवा अलग-अलग करना है, अथवा भविष्य के लिए, विशेषकर औद्योगिक उत्पादन संबंधी आर्थिक परिचालनों के तरीके और स्तर को विनियमित और अलग-अलग करना है ताकि ऐसी सम्पत्ति के एकाधिकार अथवा आय की कुल असमानताएं फिर से न उभर सकें जो आज हमारी अर्थव्यवस्था में मौजूद हैं। उत्पादन की तकनीक न केवल कुछ आय पैदा करती है बल्कि किसी विशेष प्रकार से उसका वितरण भी किया जा सकता है।

इन पृष्ठों में जिस पद्धति का समर्थन किया गया है, उसे गांधीवादी समाजवाद के नाम से पुकारा जा सकता है अथवा गांधीवादी दृष्टिकोण के अनुसार उदार पूंजीवाद कहा जा सकता है। इसे केवल सरल ढंग से श्रम प्रधान तकनीक और छोटे पैमाने के विकेन्द्रित उत्पादन का नाम दिया जा सकता है जो विशेष अभिभूत न होकर मुख्य पैटर्न है। चूंकि इस पद्धति के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय का प्रारंभिक वितरण कामगारों के अनुकूल होता है और इस प्रकार एकाधिकारों के कार्यक्षेत्र को सीमित कर देता है अतः राज्य की ऐजेंसी द्वारा इसके पुनर्वितरण की बहुत कम अथवा नगण्य आवश्यकता या कोई अवसर नहीं है। तकनीकें ही ऐसी होती हैं जिनके द्वारा उत्पादन के प्रक्रम में अलग-अलग ऐजेंटों की तुलनात्मक सहभागिता की व्याख्या की जा सकती है और इस प्रकार जो कुछ भी आमदनी होती है, उसमें उनके हिस्से आवंटित कर दिए जाते हैं। श्रम प्रधान उद्यमों में श्रमिकों को सबसे अधिक भाग दिया जाता है, पूंजी प्रधान यूनिटों में पूंजीपतियों को ,अधिक भाग दिया जाता है । इससे आगे शायद प्रत्येक

1. महात्मा गांधी, 'एक्सपेरीमेण्ट्स विद ट्रुथ', पृष्ठ 381.

व्यक्ति इस बात पर सहमत होगा कि स्वयं रोजगार ही ऐसा है जिसे सरल श्रम प्रधान तकनीकें सुनिश्चित करा देंगी। यह स्वयं रोजगार किसी भी दिन अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छा है जबकि मजदूरी रोजगार या बेकारी अनुदान लिया जाय। एक ऐसा मार्ग है जिसके अन्तर्गत लोगों के अधिकांश प्रतिशत के लोग व्यक्तिगत रूप से अथवा अपने रहन-सहन के लिए कमाते हैं अर्थात् वे उत्पादन के अपने साधनों का लाभ उठाते हैं और अपनी जीविका के लिए किसी पर आश्रित नहीं होते, निश्चय ही उस मार्ग की अपेक्षा एक अच्छा मार्ग है जिसके अन्तर्गत कुछ ही लोगों द्वारा सम्पत्ति पैदा की जाती है अथवा उनके हाथों में संकेन्द्रित हो जाती है अथवा ऐसी स्थिति के लिए सरकार के पास संकेन्द्रित हो जाती है और तब लाभ या बेशी मूल्य विभिन्न रूपों में नौकरशाही ऐजेंसी के माध्यम से वंचित तथा दीन-दुखियों में बांट दिए जाते हैं अथवा उन लोगों के लिए इनका परिवर्तन कर दिया जाता है।

25

विकेन्द्रीकरण (और रोजगार) के लिए ठोस साधन

आर्थिक नीतियां ही ऐसी हैं जो अधिकांशतया पश्चिम से नकल की गई हैं और तीन दशाब्दियों से अधिक समय के दौरान उनका अनुसरण किया गया है। इन आर्थिक नीतियों से गरीबी बढ़ी है, बेरोजगारी द्विगुणित हुई है और आय की असमानताओं में भारी अन्तर आया है। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि सरकार के कुछ ही लोगों के हाथों में आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण में वृद्धि हुई है और यह आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण कुछ निजी नागरिकों के हाथ में भी हो गया है। नौकरशाही और कुछ उद्योगपति आवश्यक संसाधनों को देहात से अलग कर रहे हैं और साथ ही साथ वहां अनिष्टकर स्थिति भी पैदा हो रही है। स्पष्टतया बेरोजगारी इन तीनों में सबसे अधिक धमकाने और घबराने वाली समस्या है। बेरोजगारी के संबंध में सबसे अधिक व्याकुल करने वाली स्थिति यह है कि इस समस्या से युवक आक्रान्त हैं। मनुष्य की आयु एक समय में ऐसी होती है जब वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी होता है, कुछ न कुछ करने के लिए सबसे अधिक लालायित रहता है और अपने जीवन को सर्वोत्तम आदर्श की अवस्था में बिताना चाहता है, ऐसे मनुष्य को बेरोजगार होने के कारण घोर अपमान सहना पड़ता है और वह अपने जीवन में असफल रह जाता है। यह स्थिति और कुछ नहीं है, केवल फूट और असंतोष के बीज बो देती है और इसके फलस्वरूप बेरोजगारी की तुलना में राजनीतिक अस्थिरता अधिक बढ़ गई है।

भारी संख्या में उच्च जन्म-दर क्रियाशील है और इसके फलस्वरूप भूमि-जोतों के आकार कम होते जा रहे हैं, औद्योगिक उत्पादन के लिए यंत्रीकरण में वृद्धि हुई है, सेवाएं बढ़ रही हैं अथवा मानवीय श्रम के स्थान पर यांत्रिक शक्ति काम करने लगी है और आर्थिक व्यवस्था गतिहीन हो गई है, बेरोजगारी बढ़ी है—चाहे वह प्रत्यक्ष हो

या अप्रत्यक्ष हो, और इसी प्रकार की अन्य बातों से इस सूची में वृद्धि हो रही है इसलिए 'गरीबी हटाओ' जैसे नारे के स्थान पर 'बेकारी हटाओ' का नारा अधिक संगत है। यदि अपने देश में सभी कामगारों के लिए रोजगार मिल जाता है तो गरीबी अपने आप ही समाप्त हो जाएगी इसलिए रोजगार और इससे बढ़कर उत्पादक रोजगार की विशिष्टता पर विशेष बल देना चाहिए। वास्तव में जिस प्रकार सेना का आत्मबल सर्वप्रथम और सबसे अधिक इस बात पर निर्भर है कि घायलों की देख-भाल और सेवा किस प्रकार की जाती है और इस प्रकार के जोखिम उठाने पड़ते हैं कि उन घायलों को कहीं छोड़ न दिया जाय। इसी प्रकार हमारी आर्थिक नीति अथवा राजनीतिक नेतृत्व की गुणवत्ता की परख हो सकती है कि वह पददलित, दुर्बल, बेरोजगार और गूंगे मनुष्यों की कितनी सेवा कर सकते हैं अथवा उनका कितना उत्थान करा सकते हैं। ये सभी मनुष्य ऐसे हैं जो गरीबी में अपने दिन काटते हैं और उन्हें यह भी विश्वास नहीं रहा है कि क्या वे अगले दिन रोटी खा सकेंगे।

दुर्भाग्यवश अभी तक पूर्णतया यह महसूस नहीं किया गया है, यहां तक कि राजनीतिक दायरों में भी यह महसूस नहीं किया गया है कि जब तक उन दोषपूर्ण आर्थिक नीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं किए जाएंगे तब तक गरीबी से मुक्ति नहीं मिलेगी जो आज की परिस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं: कितनी ही सरकारी नौकरियां हों अथवा ग्रामीण निर्माण कार्यों के कार्यक्रम हों अथवा गंदी बस्तियों के साफ करने की योजनाएं हों—इन सभी से बेरोजगारी जैसे कैंसर की बीमारी का अंत तक अथवा पूरा इलाज नहीं हो सकता। बेरोजगारी का कैंसर राष्ट्र की शक्तियों को खा रहा है इसलिए राष्ट्रीय नीति का अंतिम उद्देश्य किसी प्रकार की नौकरियों के कार्यक्रम की व्यवस्था करना नहीं है बल्कि ऐसे कार्यक्रम की व्याख्या करना है जो आर्थिक रूप से उत्पादक हों। अवांछित लोगों को बेकारी का भत्ता या सरकारी नौकरियां केवल उन्मुख करती हैं।

अभी हाल ही में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रदूषण अध्ययन के प्रोफेसर अशोक मिश्रा और भारत के शेखर मुकर्जी ने 'जनसंख्या, खाद्यान्न और भूमि-असमानता' पर अध्ययन किया है। इस अध्ययन के अनुसार भारत में इतनी क्षमता है कि दो हजार ईसवी में 95 करोड़ लोगों के लिए आवश्यक अन्न पैदा हो सकेगा। इस अध्ययन में यह भी कहा गया है कि, "चाहे किसी भी प्रकार से क्यों न देखा जाय भारतीय किसान इतना सक्षम है कि वह अच्छे परिणाम प्रस्तुत कर सकता है किन्तु शर्त यह है कि उसे निवेश उपलब्ध करा दिए जाएं और छोटे उत्पादक की कमियों को उत्तरोत्तर दूर कर दिया जाय।"

फिर भी इस अध्ययन में कहा गया है कि, "राष्ट्र में आज असाधारण स्थिति है। हमारी जनसंख्या का 2/5 भाग पर्याप्त अनाज और दालों के बिना रह जाता है जबकि सरकार के पास इन दोनों का उत्पादन और संचित स्टाक बराबर बढ़ता जा रहा है।"

दो अच्छी फसलों में यदि एक फसल न हो, तो कृषि की कीमतों में संकट उत्पन्न हो सकता है। संचित स्टाक बराबर बढ़ रहे हैं और उन खत्तियों में अनाज सड़ रहा

है। फसल उगाने की भूमि की जोतों का आकार छोटा होता जा रहा है और इसके बाद जनसंख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है जिससे भुखमरी का असाध्य रोग बढ़ता जाता है इसलिए आज की समस्या केवल उत्पादन की समस्या नहीं है बल्कि इस समस्या के ही समान मांग अथवा उपभोग की भी समस्या है। उपभोग लोगों की क्रयशक्ति पर निर्भर करता है। क्रयशक्ति उत्पादक रोजगार से मिलेगी। यह रोजगार ऐसा होगा जिससे कुछ भौतिक सम्पत्ति पैदा होगी : यदि यह बात फिर दोहराई जाय तो यह कहना ठीक है कि अनुत्पादक रोजगार मुद्रा स्फीति को बढ़ाता रहेगा। अब आवश्यकता इस बात की है कि अर्थव्यवस्था की क्रांतिकारी ढंग से पुनर्संरचना की जाए जो राजनीतिक नेतृत्व को बिना समय बर्बाद किए हुए तत्काल प्रारंभ करने के लिए तैयार होना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के महानिदेशक श्री फ्रांसिस ब्लेनचार्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की एशियाई प्रादेशिक बैठक में प्रतिनिधियों को बताया। यह बैठक 2 दिसम्बर, 1980 को मनीला में आयोजित की गई थी। उन्होंने कहा कि 1987 तक चीन की मुख्य भूमि को छोड़कर 7.5 करोड़ एशियावासियों को किसी भी संगत मनुष्योचित जीवन की जरूरतों के मापदंड के अनुसार उनकी आधारभूत आवश्यकताओं और रहन-सहन की परिस्थितियों को पूरा नहीं किया जा सकता।"

श्री ब्लेनचार्ड ने कहा कि एशिया की गरीबी की जड़ में कार्यों का अभाव है। उन्होंने यह बताया कि 1980 के प्रारंभ में बेरोजगार और अल्प रोजगार की दरों ने 20 करोड़ लोगों से अधिक अथवा 40 प्रतिशत तक लड़खड़ाते हुए स्तर को आक्रान्त किया है।

उन्होंने कहा कि गरीबी से लड़ने का मुख्य केन्द्र ग्रामीण क्षेत्रों में होना चाहिए जहां अधिकांश एशियावासी गरीब रह रहे हैं।

यदि इस स्थिति को आलोचक की दृष्टि से देखा जाय तो यह कहना ठीक होगा कि औद्योगिक उत्पादन का केन्द्रीकरण हुआ है जिसने आर्थिक शक्ति और बेरोजगार को संकेन्द्रित होने के लिए उन्मुख कर दिया है और बेरोजगार ही है जिसने गरीबी को उन्मुख किया है। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने विकेन्द्रीकरण की चर्चा की है जिसके संबंध में उनका यह विचार था कि वस्तुएं बनाने वाले उद्योग को तितर-बितर किया जाय और वास्तव में प्रत्येक अन्य कार्य-कलाप को भी अलग-अलग कर दिया जाय जो हमारे देश में विशाल ग्रामीण क्षेत्र में फैले हुए हैं, छोटी-छोटी इकाइयों या भागों में पूंजी का निवेश किया जाना है जबकि भारी निवेश हमारे बड़े-बड़े कारखानों को आज अभिभूत कर रहे हैं। और इन्हीं बड़े-बड़े निवेशों को छोटी यूनिटों या भागों में लगाना चाहिए और अलबत्ता प्रबंधकों का भी विकेन्द्रीकरण करना ठीक है जहां कामगार अपना ही कर्मचारी है और अपने उद्यम का प्रबंधकर्ता है। उन्होंने कहा कि उत्पादन और वितरण की प्रक्रिया साथ ही साथ होनी चाहिए

और यह तभी हो सकता है जब उत्पादन में विकेन्द्रीकरण के आधारभूत सिद्धांत को मान लिया जाय। इससे कामगार को न केवल प्रतिष्ठा ही मिलती है बल्कि यह हमारी भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल भी है। यह हमारे कारक न्यास के अनुकूल है जहां श्रम स्वयं पूंजी बन जाता है।

कृषि

यद्यपि कृषीतर संसाधनों की वृद्धि बेरोजगार और अल्प रोजगार का अन्तिम समाधान है फिर भी उपयुक्त प्राथमिकता कृषि को दी जाती है और आवश्यक निवेश किए जाते हैं और अल्प समय में ही कृषि स्वयं अधिक रोजगार की व्यवस्था कर देती है जबकि आज वस्तुएं तैयार करने वाले उद्योग नहीं कर पाते। खाद्यान्न कृषि संगठन उत्पादन इयर बुक (एफ० ए० ओ० प्रोडक्शन इयर बुक, 1970) के अनुसार भारत कृषि में सबसे कम कार्य-निष्पादन वाला देश है। 1970 में प्रति 100 एकड़ भूमि पर 39 कामगार लगे रहे। अधिक कार्य-निष्पादन करने वाले देश यथा—जापान, दक्षिण कोरिया, ताइवान, मिस्र के आंकड़े 1965 में क्रमशः 87, 79, 75 और 71 रहे। ये चार देश विश्व में छोटे फार्म श्रम प्रधान कृषि के आदर्श हैं। इन देशों में प्रति एकड़ विकासशील विश्व की सबसे अधिक पैदावार होती है और छोटे किसानों के लिए भी सबसे अधिक आय के स्तर हैं तथा कृषि वृद्धि के लिए सबसे कम पूंजी की लागत है।

यदि एक बार हम इस संकल्पना को स्वीकार कर लें कि नीचे से लेकर ऊपर तक निर्माण किया जाता है, जैसाकि गांधी जी ने बताया था, तो महत्त्व का केन्द्र शहर और बड़े कारखाने से अलग हटकर गांव और कुटीर उद्योग पर हो जाएगा जैसा गांधी जी कहा करते थे कि भारत गांवों में बसता है और गांव से शहरों में भारी संख्या में लोग बराबर जाने के बावजूद भी गांव का अब भी प्रभुत्व है और गांव सदैव ही अपना प्रभुत्व रखेंगे। वास्तव में 1975 में केवल जनसंख्या का 6.1 प्रतिशत भाग बड़े-बड़े शहरों में रहा था। (जबकि इसकी तुलना में 1960 में जनसंख्या 7.1 प्रतिशत भाग बड़े-बड़े शहरों में रहता था) और शेष जनसंख्या छोटे-छोटे नगरों या गांवों में रहती थी। 1971 की जनगणना के अनुसार 18 करोड़ कामगारों में से 12.9 करोड़ अर्थात् 72 प्रतिशत कामगार सीधे ही कृषि और संबंधित व्यवसायों में लगे हुए थे। यहां ऐसा कहना आवश्यक है फिर भी यह बताया जा सकता है कि किसान के स्वामित्व, जहां किसान अपनी वास्तविक जोत-भूमि का मालिक होता है और जैसाकि इस पुस्तक के पहले भाग में सिफ़ारिश की गई है, का स्थान दस्तकारी के बाद आता है। दस्तकारी विकेन्द्रित आर्थिक कार्यकलाप का सर्वोत्तम रूप है जिसे स्थान, पूंजी-निवेश और प्रबंध की दृष्टि से देखा जा सकता है। पारिवारिक फार्म-पद्धति, किसान स्वामित्व अथवा छोटे पैमाने की फार्मिंग का दूसरा नाम है। इस पद्धति से न केवल अधिक उत्पादन होता है, बल्कि प्रति एकड़ अपेक्षाकृत अधिक लोग काम पर लगाए जाते हैं और यह पद्धति बड़े पैमाने की फार्मिंग, चाहे वे किसी भी प्रकार की क्यों न हों, की तुलना में लोकतांत्रिक व्यवहार की प्रोन्नति की परिस्थितियां उत्पन्न करती है।

लेकिन विडम्बना यह है कि राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारत में भूमि-सुधार के जो कार्य किए गए उनसे बेरोजगार अथवा अल्प रोजगार की संख्या काफी बढ़ी है। जमींदारों ने अनेक काश्तकारों या उपकाश्तकारों को उनकी भूमि-जोतों से अलग कर दिया या अलग होने की अनुमति दे दी। इन काश्तकारों या उपकाश्तकारों के पास कोई अन्य विकल्प नहीं था अपितु वे कृषि मजदूर के रूप में काम करने लगे और सीमांत या उपसीमांत किसान बन गए।

यदि वर्तमान तकनीकों या प्रौद्योगिकियों में सुधार (यंत्रीकरण के अलावा) किए जाएं तो अनुभव यह बताता है कि श्रम की मांग बढ़ जाएगी। रोजगार, सीढ़ीदार खेती, बांध-निर्माण, नाली-नियंत्रण, कम्पोस्ट-निर्माण, भूमि-सुधार, भूमि-संरक्षण, वन-रोपण, दोहरी और तिहरी फसल उगाने, बीज बोने की नई तकनीकों के अपनाने, निराई करने और नाशी जीवों के नियंत्रण आदि कार्य-कलापों में ही नहीं बढ़ेंगे बल्कि फसल काटने के बाद की क्रियाओं में भी, जिनमें परिवहन, भंडारन और प्रक्रम शामिल हैं, रोजगार बढ़ जायेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि आज गांव में उपलब्ध कम रोजगार अधिक मात्रा में हैं और निष्क्रिय तकनीकें भी पाई जाती हैं।

अधिक उत्पादन के लिए सिंचाई निर्माण कार्यों का निर्माण संभाव्य बड़े पैमाने पर रोजगार का एक अल्प वास्तविक साधन बन जाता है। इसमें कुओं का निर्माण, टैंकों का खोदना और उनकी मरम्मत करना, सिंचाई-नहरों का विस्तार, खाइयों का खोदना अथवा जल-निकासी निर्माण कार्यों का निष्पादन और बांधों का निर्माण शामिल किया जाता है। कृषि में अतिरिक्त रोजगार की संख्या का अनुमान नवीन सिंचित क्षेत्रों में लगाया गया है और इसकी संख्या अधिक है अर्थात् 60 प्रतिशत है।

आवास-गृहों और सड़कों के निर्माण से भी रोजगार के साधन बनते हैं। वास्तव में देहाती क्षेत्रों में रोजगार की असीमित संभावनाएं हैं। प्रायः मशीनों के हिमायती नौकरशाही तंत्र के अधिकारी यह विश्वास करते हैं कि बुलडोजर अथवा मिट्टी हटाने की मशीन आदमियों के हाथों से किए जाने वाले कार्य की अपेक्षा कहीं अधिक काम कर सकती है। लेसोथो में विश्व की सबसे खराब भूमि-कटाव की समस्या है और वहां से दक्षिण अफ्रीका की खानों में काम करने के लिए काफी युवक जा रहे हैं, इसलिए आस्ट्रेलिया की बड़ी-बड़ी मशीनों से (भूमि-कटाव को रोकने के उपाय के रूप में) उसकी घाटियों को समोच्च कर दिया गया है। फिर भी यह निर्माण-कार्य हाथों से भी आसानी से और सस्ते ढंग से पूरा किया जा सकता था।

इसलिए हमें यह समझना चाहिए कि यदि रोजगार का उद्देश्य हमें सबसे प्रिय है तो प्रशासकीय अथवा वित्तीय रूप से कोई भी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, कम-से-कम ऐसे क्षेत्रों और प्रदेशों में यह प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए, जहां कृषि मजदूर संख्या में मिल जाते हैं, चाहे यह प्रोत्साहन राज-सहायता, सस्ती दरों और आसान किस्तों पर ऋण, किराए-खरीद की सुविधाओं और कीमत-नियंत्रण—यहां तक कि

विस्तार सेवाओं में ही क्यों न दिया जाय। इस प्रोत्साहन से कृषि क्षेत्र में बड़ी-बड़ी मशीनों के प्रयोग के विस्तार से सहायता दी जाती है। लेकिन श्रमिकों को मजदूरी नहीं मिल पाती। यंत्रीकरण से किसान को अधिक क्षेत्रफल की भूमि में खेती करने या नियंत्रण करने में सहायता मिलती है जबकि इसकी सहायता से प्रति एकड़ उत्पादन नहीं बढ़ पाता है (जिसकी आवश्यकता है और भारत में जिसके लिए उद्देश्य बनाना है) इसलिए मुख्य नीति का नियम यह होना चाहिए था कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के उन तत्वों पर जोर दिया जाय जो श्रम को नहीं हटाते। इन तत्वों में बीज, उर्वरक और कीटनाशक दवाइयां शामिल की जा सकती हैं। पूर्व पृष्ठों में उन पूंजी एकत्र करने के रूपों के बारे में पहले ही चर्चा की जा चुकी है, जो मानव शक्ति का अधिक उपयोग करते हैं। इन कार्यों में भूमि को समतल बनाना और उसे स्वच्छ करना, सिंचाई और जल-निकासी निर्माण-कार्यों का विस्तार, खेत के चारों ओर बाड़ लगाना आदि सम्मिलित किए जाते हैं। गांधीजी ने बताया था कि यदि कृषि को यंत्रीकृत किया जाना है तो उसे यंत्रीकृत कर दिया जाना चाहिए। लेकिन मशीनों को मानवीय प्रयत्न का पूरक बनाया जाय और यंत्रीकरण के माध्यम से जो कृषि की जाती है, वह भार न बन कर सरल या हल्का स्वरूप सिद्ध हो। उदाहरणार्थ, जापान की फार्म मशीनरी की शैली उपयुक्त हो सकती है।

पहले भाग में जो सिफारिशें की गई हैं कि हमारे लोगों को कृषीतर व्यवसायों में अधिकाधिक लगना चाहिए और इस स्थिति में कोई भ्रम पैदा नहीं करना चाहिए। इस सभी का इरादा यह था कि यदि हमारे लोग कृषि से संतुष्ट हैं, तो वे गरीब रह जाएंगे क्योंकि आज जो भी श्रम उपलब्ध है, उसका भरपूर उपयोग कृषि क्षेत्र में नहीं हो सकेगा और इसलिए कृषि क्षेत्र में अधिक रोजगार देने की गुंजाइश नहीं थी अथवा अल्प रोजगार प्राप्त लोगों को कृषि क्षेत्र में काम नहीं करना चाहिए अथवा उन्हें कृषि क्षेत्र में नहीं रहना चाहिए, चाहे आज हमारे देश में कृषीतर व्यवसाय (चाहे कोई भी कारण क्यों न हो) तेजी से उभर नहीं रहे हैं। प्रायः सभी देशों में औसत रूप से प्रति व्यक्ति कृषि आय की तुलना में कृषीतर आय अपेक्षाकृत अधिक है और लोगों के रहन-सहन का स्तर बढ़ गया है और यह स्थिति भारत जैसे देश, जिसमें घनी कृषि अर्थव्यवस्था (अथवा भूमि-आदमी का अनुपात बहुत ही कम है), में बढ़ ही जाएगी यदि/और जब भी कृषि कामगार कृषीतर व्यवसायों में चले जायेंगे। ये सभी आर्थिक जीवन के सही तथ्य हैं जिनके बारे में किसी प्रकार का कोई विवाद नहीं है।

विनिर्माण उद्योग

गत पृष्ठों में जो कुछ भी कहा गया है उस पर विचार करते हुए कोई भी व्यक्ति वस्तुतः आश्चर्य कर सकता है कि क्या भारत ने अतीत में अथवा यहां तक कि आज भी (जबकि हालात बहुत खराब हो चुके हैं) पूंजी प्रधान उद्यमों की स्थापना की थी ताकि प्रति व्यक्ति उत्पादकता बढ़ाई जा सके। इससे पूर्व उन सभी लोगों को पूर्ण-तया रोजगार में लगा लिया जाए जिनके पास कोई काम नहीं है। ब्रिटिश शासकों

से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे हमारी समस्याओं को सही तरीके से समझें जबकि ब्रिटिश शासन काल में पूंजी प्रधान उद्योग हमारे देश में स्थापित होने लगे थे परन्तु खेद है कि बेरोजगारी समस्या के होने के कारण डरावनी स्थिति पैदा हो गई और इस भयंकर स्थिति के बावजूद हमारे देश में व्यापक रूप से अब भी प्रति व्यक्ति उत्पादकता (बड़ी और स्वचालित यूनिटों द्वारा) बढ़ाने के लिए अविचारणीय समर्पण है परन्तु यदि राष्ट्रीय हितों का समाधान किया जाना है तो इस संबंध में अब तक जिस नीति का अनुसरण किया गया है उसे प्रबल ढंग से बदलना होगा। दस्तकारियों और श्रम प्रधान उद्यमों को बहुतायत से देश के आर्थिक क्षेत्र में अपना स्थान ग्रहण करना चाहिए।"

डॉ० कुमारप्पा ने लिखा है : "व्यापक गरीबी-निवारण बड़े पैमाने के उत्पादन में निहित नहीं है। बड़े पैमाने का उत्पादन निजी उद्यम की पद्धति पर आधारित होता है। इस प्रकार की पद्धति से कुछ ही लोगों के हाथों में धन संचित हो जाता है परन्तु यदि उत्पादन को यथासंभव अधिकाधिक लोगों में प्रसारित किया जाए तो उनमें से प्रत्येक धन पैदा करने लगेगा। इस प्रकार धन स्वत: समान रूप से वितरित होने लगेगा। एक ओर कुछ ही करोड़पति लोग और दूसरी ओर करोड़ों भूखे लोगों के बावजूद हम इस स्थिति को बदल सकते हैं। यदि हम बड़े पैमाने के निर्माण को कुटीर उत्पादन से बदल लें तो इस प्रकार न तो करोड़पति होंगे और जो कुछ भी इन लोगों की जेबों के भरने के लिए जाता था वह अन्यथा हजारों ग्रामीणों को समृद्ध बना सकता है। गरीबों में धन का वितरण करना सर्वोत्तम दान नहीं है। ऐसा करने से दोनों का ही नैतिक पतन हो जाता है। एक व्यक्ति वह है जो इस प्रकार दान देता है और दूसरा व्यक्ति वह है जो इस प्रकार दान लेता है; लेकिन यदि कोई व्यक्ति कार्य उपलब्ध कराये तो वह भुखमरे व्यक्ति को भोजन देने के अलावा जीवन-आशा और आनंद प्रदान करेगा।[1]

वस्तुतः यह घबरा देने वाली स्थिति है कि एक ओर हमारे देश के करोड़ों लोगों को काम नहीं मिल पाता और दूसरी ओर वे वस्तुओं और सेवाओं के अभाव से पीड़ित हैं (क्योंकि लोग काम पर नहीं लगाये जाते हैं)। देश का कुल उत्पादन दो प्रकार से बढ़ाया जा सकता है : या तो उत्पादकता (काम पर लगाये प्रति व्यक्ति के हिसाब से उत्पादन) बढ़ाकर अथवा काम पर लगाये हुए व्यक्तियों की संख्या को बढ़ाकर। किसी भी अर्थव्यवस्था में जहां प्रत्येक व्यक्ति को काम पर लगाया जाता है, तो पहला ही मार्ग ऐसा है जो इसके लिए खुला हुआ है अर्थात् उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रत्येक संभव प्रयत्न किया जाना है जिसे चाहे पूंजी निवेश द्वारा और श्रमिक दल के अपेक्षाकृत अच्छे प्रशिक्षण या संगठन अथवा उत्पादन की नवीन तकनीकों के विकास से पूरा किया जा सकता है परन्तु भारत जैसे देश में जहां बेरोजगारी व्यापक रूप से फैली हुई है, जहां भूमि और पूंजी सीमित है और मानव-शक्ति वस्तुत: असीमित है वहां

1. 'कैपीटलिज्म, सोशलिज्म एण्ड विलिज्म, पृष्ठ 122.

दूसरी ही पद्धति ऐसी है जिसे काम में लाया जा सकता है। ऐसे देश में यह पद्धति आर्थिक रूप से अधिक उपयुक्त है ताकि रोजगार बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाया जाये। हमारी परिस्थितियों में जहां कहीं भी संभव हो, एक नियम रखना चाहिये। कृषि में भूमि के लिए पूंजी और श्रम तथा उद्योग में पूंजी के लिए श्रम आवश्यक है।

रिचार्ड डी० ग्रेग गांधीवादी अर्थशास्त्र के प्रतिपादक रहे हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए फिलौसफी ऑफ़ इंडियन इकनॉमिक डवलपमेंट' (नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, 1958) में प्रशंसनीय ढंग से इस बात पर चर्चा की है कि भारत में बेरोजगार और अल्प रोजगार व्यक्ति जैसे करोड़ों इंजन बेकार पड़े हैं। इस देश में कितने सरल और सस्ते रूप में मशीनें या युक्तियां उदाहरणार्थ कताई करने वाले चर्खे और हथकरघे एक ओर उपलब्ध हैं तो दूसरी ओर कच्चा माल (कपास और लकड़ी) उपलब्ध हैं। फिर भी हमें यह महसूस नहीं होता कि इन इंजनों को इन मशीनों के साथ जोड़ा जा सकता है और इस प्रकार हमारी गरीबी अधिकांशतया मिटाई जा सकती है। मिस्टर ग्रेग ने यह तर्क दिया है कि भारत के लिए यह आत्महत्या जैसा ही होगा यदि भारत के करोड़ों व्यक्तियों के हाथों से स्टोर की गई सौर-उर्जा को भौतिक जीवन के बनाए रखने के उद्देश्य के लिए भाप, बिजली-ऊर्जा अथवा अन्य किसी प्रकार की शक्ति के स्थान पर असंभव प्रयत्न द्वारा बेकार होने दिया जाय।

पाठक ने यह अध्ययन किया है कि अधिकांश कुटीर उद्योग या दस्तकारियां अब विद्यमान नहीं हैं और इस प्रकार करोड़ों लोग बेकार हो गए हैं और अब भी जो कुटीर उद्योग और दस्तकारियां जीवित हैं वे भी विनाश के पथ पर अग्रसर हैं क्योंकि खुले बाजार में विकेन्द्रीकरण के लाभ श्रम प्रधान पद्धति द्वारा प्रतिसाद करने में अपर्याप्त हैं और इससे बहुत कम धनोपार्जन होता है तथा इसकी अपेक्षा पूंजी प्रधान आधुनिक उद्योग की प्रौद्योगिकी कहीं अधिक अच्छी है इसलिए यदि हम श्रम प्रधान उद्यमों को फिर से लाना चाहते हैं अथवा यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि जो आज थोड़े से कुटीर उद्योग व दस्तकारियां विद्यमान हैं वे बनी रहें तो हमें ऐसे कदम उठाने पड़ेंगे कि हम उन्हें बड़ी और स्वचालित उद्योगों की प्रतियोगिता से बचा सकें।

एक समाधान के रूप में कई लोगों ने जो अभावग्रस्त आदमी के प्रति सच्ची सहानुभूति रखते हैं, निश्चयपूर्वक कहा है चूंकि भारत की आर्थिक नीति, विशेषतया लगाई गई पूंजी की मात्रा से संबंधित छुट्टी-अवकाश और निवेश भत्ते के साथ प्रत्यक्ष करारोपण की पद्धति पूंजी-प्रधान उपक्रमों के पक्ष में पक्षपात किया है और यह नीति हमारे औद्योगिक उद्यमों में श्रम की प्रधानता की अवनति के लिए उन्मुख रही है। अतः हमें अपनी अर्थनीति को नया रूप देना है अथवा फिर से बदलना है जिससे रोजगार को प्रोत्सासन मिले। इस संबंध में कई सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं ताकि पूंजी प्रधान उद्योगों के समर्थन में पक्षपात की वर्तमान नीति को हटाया जा सके। रोजगार को प्रोत्साहन देने के लिए प्रायः जिन साधनों का सुझाव दिया गया है उनमें से प्रमुख साधन इस प्रकार हैं—(i) श्रम प्रधान उद्योगों के लिए कर में छूट देना; (ii) लगाई

गई पूंजी से संबंधित सभी वित्तीय प्रोत्साहनों को हटा लेना; और (iii) कर प्रयोजनों के लिए व्यय के रूप में ब्याज को छोड़ देना।

इन प्रस्तावों के प्रवर्तक इस अनुमान के साथ यह कहते हैं कि आधुनिक उद्योग बने रहेंगे और उनकी वृद्धि भी होती रहेगी : केवल इन प्रस्तावों के स्वीकार करने से अपेक्षाकृत अधिक रोजगार उपलब्ध होंगे जो आज नहीं हैं। पाठक ने इससे पूर्व के अध्यायों में अध्ययन किया है कि ऐसे प्रवर्तक यह भूल जाते हैं कि बेरोजगार अथवा अल्प रोजगार आधुनिक प्रौद्योगिकी का प्रत्यक्ष प्रतिपल है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक पंजीकृत उद्योग को श्रम की अपेक्षा पूंजी की अधिक आवश्यकता होती है ताकि वह अपनी स्थापना कर सके और उसे चला सके। इस कठोर तथ्य के विचार से, जो इस प्रश्न के मूल में निहित है, यह न्यायोचित नहीं होगा कि यह आशा की जाए कि रोजगार प्रोत्साहनों (चाहे वे ईमानदारी और सफलतापूर्वक प्रशासित किए गए हों) के कार्यान्वियन से उत्पादन के श्रम प्रधान तरीकों के पक्ष में ठोस कार्य करेंगे और इससे स्वयं ही बेरोजगारी की समस्या का समाधान हो जाएगा। अधिकांश उद्योगों में प्रौद्योगिकी इतना सशक्त कारक होता है कि प्रोत्साहनों द्वारा श्रम का सस्ता करना उद्योगपतियों को प्रोत्साहित नहीं कर पाएगा कि वे उत्पादन के निम्न अथवा पूंजी प्रधान तरीकों का प्रयोग कर सकें।

यदि चयन और आवश्यक पूंजी की स्वतंत्रता मान ली जाए तो अधिकांश उद्योगपति इस बात को चाहेंगे कि अधिक कामगारों को काम पर लगाने की अपेक्षा महंगी मशीनों को फैला लिया जाए (अर्थात् अधिक श्रम प्रधान प्रक्रियाओं की अपेक्षा पूंजी प्रधान प्रक्रियाओं को वरीयता दी जाए) जिसका कारण केवल लाभ ही नहीं (विकृत कारक-कीमत स्थिति में) बल्कि कारण यह भी है कि (i) श्रम प्रबंध की अपेक्षा मशीन-प्रबंध अपने में ही अपेक्षाकृत अधिक सरल है और (ii) यदि एकसाथ काम करने वाले कामगारों की संख्या में वृद्धि कर दी जाए तो श्रम प्रबंध की समस्या अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

इसलिए आधुनिक उद्योग में कारक मिश्रण को प्रभावित करने के उद्देश्य से करारोपण पद्धति के प्रयोग का कार्यक्षेत्र अन्य शब्दों में, पूंजी की कीमत पर रोजगार को प्रोत्साहन देना सीमित हो जाता है और वस्तुतः बहुत ही सीमित हो जाता है। कर प्रोत्साहन अपने सर्वोत्तम रूप में केवल प्रशामक सिद्ध होंगे और बेरोजगारी के रोग का निदान नहीं कर पाएंगे।

अनेक देशों में औद्योगिक रोजगार के लिए कर प्रोत्साहनों के संबंध में स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए जार्ज लैंट ने जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है :

> "विकासशील देशों के अनुभव से इस विश्वास को बहुत कम समर्थन मिलता है कि कर-प्रोत्साहन उद्योग में रोजगार पैदा करने के लिए प्रभावकारी साधन हो सकता है। करारोपण नए उद्योग के आकर्षण में अन्य आर्थिक और राजनीतिक विचारों द्वारा अधिकांशतया घटाटोप हो जाता है

और सर्वोत्तम रूप में कर-प्रोत्साहन केवल निवेश निर्णय को सीमांत रूप से प्रभावित कर सकते हैं। कर-लाभ कई ऐसे उद्योगों में पूंजी के बदले श्रम को रखने से अपेक्षाकृत उत्तोलन शक्ति रखते हैं जहां कारक अनुपात प्रौद्योगिकी द्वारा निर्धारित किए जाते हैं।"[2]

'स्टेट्समैन', नई दिल्ली, 28 जुलाई, 1980 का निम्नांकित उद्धरण बेरोजगार समस्या का समाधान अभिव्यक्त करता है और इस संबंध में हमारे कतिपय राजनीतिज्ञों ने भी समर्थन किया है। वे बड़े और पंजीकृत उद्योग पर प्रतिबंध लगाए बिना छोटे अथवा कुटीर उद्योग को स्थापित करना या बचाना चाहते हैं।

"उत्तर प्रदेश सरकार ने बड़े पैमाने पर ग्रामीण विकास कार्यक्रम प्रारंभ किया है। इस वर्ष इन योजताओं पर 50 करोड़ रुपए लगाए जाएंगे ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य के अवसर पैदा किए जा सकें जैसाकि योजना और सहकारिता मंत्री श्री ब्रह्मदत्त ने कहा है।

" उपयुक्त प्रौद्योगिक विकास संघ (अप्रोप्रिएट टैकनॉलाजी डवलपमैंट एसोसिएशन) के प्रतिनिधिमंडल से बात करते हुए श्री दत्त ने इस आवश्यकता पर बल दिया कि ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश मानव शक्ति के उच्चतम प्रयोग के लिए सहायतार्थ प्रभावकारी प्रौद्योगिकी का विकास किया जाए और वैयक्तिक उत्पादकता में वृद्धि की जाए ताकि कामगार अपनी आय में वृद्धि करने के लिए सक्षम हो सके।

" उन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार बढ़ाने के लिए विशिष्ट परियोजनाएं तैयार करने का अनुरोध उपयुक्त प्रौद्योगिकी विकास संघ से किया और यह कहा कि सूती धागे की कताई, चीनी और सीमेंट विनिर्माण यूनिटों के लिए परियोजनाएं राज्य के विभिन्न भागों में ग्रामीण बेरोजगारों की सहकारी समितियों के संगठन द्वारा शुरू की जा सकती हैं। "

यह बात भुला दी जाती है कि सूती धागे की कताई, चीनी और सीमेंट विनिर्माण के लिए परियोजनाएं इस क्षेत्र में पहले से ही स्थापित बड़े यंत्रीकृत यूनिटों की शायद ही प्रतियोगिता कर सकें जब तक बड़ी और यंत्रीकृत यूनिटों को कम नहीं कर दिया जाता अथवा सूती धागे की कताई, चीनी और सीमेंट विनिर्माण की यूनिटों को सरकार द्वारा राज-सहायता नहीं दी जाती—यह स्थायी नीति नहीं हो सकती और इससे उस बड़ी समस्या पर कोई प्रभाव भी नहीं होगा जिसका आज हम सामना कर रहे हैं।

2. 'टैक्स इन्सेंटिव्स फार इन्डस्ट्रीयल एम्पलायमेंट', जार्ज लैंट, आई० एम० एफ०, स्टाल पेपर्स, 1971, पृष्ठ 399.

बेरोजगारों को शीघ्र ही काम देने की कोई संभावना नहीं है, अतः कई राज्यों ने पहले ही बेरोजगारी भत्ता प्रारंभ कर दिया है। केन्द्रीय सरकार के पास राष्ट्रीय स्तर पर अभी सीधे ही कोई भी बेरोजगार भत्ता योजना के प्रारंभ करने की कोई योजना नहीं है। यह मान लिया जाए कि बेरोजगार लोग अर्थात् सर्वेक्षण के 32वें दौर के सर्वेक्षण के अनुसार 15 से 59 वर्ष तक की आयु वर्ग के लोगों की संख्या 1 करोड़ 69 लाख है। यदि भूतलिंगम रिपोर्ट द्वारा प्रस्तावित प्रतिदिन 4 रुपए की न्यूनतम राष्ट्रीय मजदूरी प्रति व्यक्ति दी जाए तो प्रति बेरोजगार व्यक्ति को प्रति मास कम से कम 100 रुपए का भत्ता देने से प्रतिवर्ष 2,028 करोड़ रुपए का व्यय होगा जिसमें इस योजना के प्रशासन की लागत शामिल नहीं की गई है। यह योजना केवल अव्यावहारिक है। इसके अलावा हमारे देश में लोगों की यह प्रवृत्ति है कि वे वहीं रहना चाहते हैं जहां वे आज हैं और यदि यह योजना एक बार प्रारंभ की गई तो बेरोजगार अथवा भत्ता मांगने वालों की संख्या इतनी अधिक बढ़ जाएगी कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

अखिल भारतीय विद्यार्थी फैडरेशन और अखिल भारतीय युवा फैडरेशन के युवकों ने 23 नवम्बर से 28 नवबर, 1980 तक नई दिल्ली में अपने उच्च कंठ से 'काम दो या जेल दो' (जॉब्स ऑर जेल्स) के नारे लगाकर बन्दी बनना स्वीकार किया। इसी प्रकार की लिवर पूल (इंगलैंड) में एक बहुत बड़ी रैली 1 दिसंबर, 1980 को आयोजित की गई जो बेरोजगार विरोधी थी और इस रैली को लेकर पार्टी के नेताओं ने संबोधित किया था। आज इंगलैंड में बेरोजगारों की संख्या 21,75,000 है। इंगलैंड या आस्ट्रेलिया में रैली, हड़ताल, प्रदर्शन या अन्य प्रकार के विरोध या नागरिक असहयोग आंदोलन इस उद्देश्य के लिए ठीक हो सकते हैं लेकिन भारत के लिए यह ठीक नहीं हैं। जब हम अपने देश में बेरोजगारी की बात करते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम कुछ ही हजार या कुछ ही लाख की बात कर रहे हैं बल्कि हम उन तीस करोड़ लोगों की बात कर रहे हैं जो बेरोजगार या अल्प रोजगार हैं। हमारी समस्या का आकार इतना बृहद् है कि किसी भी प्रकार का अल्प प्रोत्साहन, अल्प सुधार, अल्प उन्नति अथवा प्रोत्साहन से परे है और यह समस्या मूलभूत राजनीतिक या आर्थिक दर्शन का विषय है। क्या भारत इस योग्य हो सकेगा कि आवश्यक परिवर्तन लाया जा सके और इस समस्या का निराकरण किया जा सके और यह इस बात पर आधारित है कि क्या नेतृत्व आवश्यकता राजनीतिक उत्साह को बटोर सकेगे।

बेरोजगारी की समस्या अधिकांशतया आधुनिक प्रौद्योगिकी का सृजन है और इसका समाधान तभी हो सकेगा जब अर्थव्यवस्था के बड़े क्षेत्रों में उत्पादन की प्रौद्योगिकी या तकनीकों में क्रांतिकारी परिवर्तन या सुधार लाया जाए। छोटे पैमाने के उद्योग (कुटीर उद्योग नहीं) के क्षेत्र को प्रशासकीय आदेशों से केवल अलग कर

देने से, जैसाकि शासक, कांग्रेस पार्टी बराबर कर रही है अथवा जनता पार्टी ने दो वर्षों या इतने ही समय से किया है, समस्याओं का निराकरण नहीं किया जाएगा। भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने 1977 के बजट सत्र में अपने भाषण में आधा घंटे तक कुटीर उद्योग को बेरोजगारी के दूर करने का केवल निदान माना लेकिन संसद से एक भी शब्द नहीं कहा कि कुटीर उद्योग को आधुनिक मशीन की प्रतियोगिता के विरुद्ध किस प्रकार स्थापित किया जाए अथवा बचाया जाए। बड़ी-बड़ी कम्पनियां पहले ही ऐसे क्षेत्रों में काम कर रही हैं जिनमें कभी श्रम-प्रधान उद्यम काम करते थे अथवा उन क्षेत्रों में काम कर रही हैं, जिन्हें आज श्रम प्रधान उद्यम हाथ में ले सकते हैं। ऐसी स्थिति में नवीन विकेन्द्रित यूनिटों को बढ़ने और समृद्धिशील नहीं बनने दिया जाएगा।

किसी भी कुटीर उद्योग या छोटे पैमाने के उद्योग के पक्ष में संरक्षण का कोई अर्थ होता है अथवा यह तभी प्रभावकारी होगा यदि उन विधायी कानूनों द्वारा इसका समर्थन किया जाए जिनकी सरकारी समिति द्वारा बहुत पहले ही सिफारिश की गई है और जिनकी सिफारिशों को बड़े-बड़े व्यापारियों ने रुपयों भरी थैलियों से नष्ट कर दिया है।

जनता पार्टी ने फरवरी, 1977 में बहुत पहले ही अपने चुनाव घोषणा-पत्र में यह घोषित किया था कि "विशिष्ट प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों के सीमांकन करने और छोटे पैमाने तथा कुटीर उद्योगों के उत्पादन के लिए क्षेत्रों के कानूनी संरक्षण के उपाय किए जाएंगे।" इस घोषणा-पत्र की पुनः पुष्टि की गई, जब जुलाई, 1977 में जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्य समिति ने आर्थिक नीति पर अपना संकल्प स्वीकार किया और इसकी पुष्टि इन शब्दों में की गई : "कुटीर उद्योग से जो कुछ भी उत्पादन किया जा सकता है, उस उत्पादन की अनुमति छोटे और बड़े पैमाने के क्षेत्रकों को नहीं दी जायेगी और जो कुछ भी छोटे पैमाने के उद्योग पैदा कर सकते हैं, उस उत्पादन के लिए बड़े पैमाने के उद्योग को अनुमति नहीं दी जाएगी।"

आर्थिक समस्या का अन्तिम समाधान न केवल कृषि श्रमिकों तक ही सीमित है अपितु हमारे देश में करोड़ों सीमान्त किसान, अन्य गरीब या बेरोजगार और अल्प रोजगार प्राप्त लोग हैं जिनकी समस्या का समाधान किया जाना है तथा यह समाधान कुल मिलाकर कृषीतर संसाधनों के विकास—कुटीर उद्योग अथवा अन्य श्रम प्रधान उद्यम—पर भी निर्भर होना है जो अन्ततोगत्वा बढ़े हुए कृषि-उत्पादन पर आश्रित होते हैं अतः आधुनिक उद्योग में कटौती और हमारे लोगों का मानसिक परिवर्तन अथवा राष्ट्रीय मनोविज्ञान का परिवर्तन आवश्यक है। भूमि के पुर्नवितरण की ग्रस्तता ऐसी होती है जो हमारा अधिकतम समय बर्बाद करा सकती है, अतः इस ग्रस्तता को बनाए रखने की अनुमति नहीं देनी चाहिए क्योंकि इससे हमारा ध्यान मुख्य रोग के निदान से हट जाता है। न केवल भूमि आधिपत्य की सीमाओं के आरोपण से संबंधित कानून में साथ ही संशोधन किए जाने चाहिए और उन्हें अपेक्षाकृत अधिक क्रांतिकारी और प्रभावकारी बनाना चाहिए अपितु राष्ट्र अथवा सरकार के समय, शक्ति और संसाधनों का समपर्ण किसी भी योजना के साथ होना चाहिए, जो कुटीर और अन्य श्रम-प्रधान उद्यमों की

पुनर्स्थापना और पुनर्जीवन के अलावा इस समस्या को गंभीर बना देती है।

इसलिए यदि हम कुछ करना ही चाहते हैं तो हमें विभिन्न उद्योगों के क्षेत्रों का सीमांकन करने के लिए अपने विधि-संग्रह में इतने कठोर कानून को स्थान देना होगा, जिससे कि किसी भी मध्यम या बड़े पैमाने के उद्यम भविष्य में स्थापित होने की अनुमति नहीं प्राप्त कर सकेंगे क्योंकि उनमें वही वस्तुएं या सेवाएं पैदा की जाती हैं, जो कुटीर या छोटे पैमाने के उद्यम पैदा कर सकते हैं। उप-सिद्धान्त के रूप में वर्तमान मिलों या कारखानों, जो कपड़ा जैसी वस्तुओं का निर्माण करते हैं जिन्हें छोटे या कुटीर पैमाने के उद्यम तैयार कर सकते हैं, को देश के भीतर अपने उत्पादों को बेचने की अनुमति नहीं दी जाएगी लेकिन वे अपनी वस्तुओं का बाहर निर्यात कर सकेंगे। सरकार वह सब कुछ करेगी, जिससे कि इन उद्योगों को अपनी वस्तुओं के लिए विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता के परिवेश में स्थान मिल सके। यदि ये उद्योग प्रतियोगिता में नहीं ठहरते तो यह श्रेयस्कर होगा कि वे बंद कर दिए जाएं लेकिन ऐसी वस्तुओं के लिए हमारे देश के बाजार में भविष्य में छोटे या कुटीर उद्योग को ही एकमात्र संरक्षण दिया जाएगा।

जवाहरलाल नेहरू ने महात्मा गांधी को 9 अक्टूबर, 1945 को एक पत्र लिखा। इस पत्र में नेहरू ने अपना वह विचार प्रकट किया, जिसका कोई तर्क नहीं है। उनके मत के अनुसार, "यदि देश में दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं विद्यमान हों तो या तो दोनों में संघर्ष होगा अथवा एक अर्थव्यवस्था दूसरी पर हावी हो जाएगी।" फिर भी सरकार का कार्य या उद्देश्य इस बात में निहित है कि इन दोनों परस्पर विरोधी हितों का संतुलन किया जाए : अन्यथा हमें किसी भी सरकार की कोई आवश्यकता नहीं है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि एक बार ही दो निर्णय अर्थात् उद्योगों के विभिन्न प्रकार के उत्पादन के क्षेत्रों का कानून-सम्मत सीमांकन और वर्तमान बड़े पैमाने के उद्योगों की वस्तुओं के विदेशी बाजारों में निर्यात किए जाते हैं अथवा दृढ़ता से लिए जाते हैं। बेरोजगार का फ्रैंकस्टीन का सिद्धान्त सरकार की एक क्षण की निद्रा खोए बिना और पूंजी, विद्युत-ऊर्जा तथा तकनीकी जानकारी, जो सरकार अथवा उद्यमकर्त्ता को विपत्ति में डाले रहती है, के बिना दफनाया गया है।

आज देश दोषपूर्ण निवेशों की दुर्दशा से आक्रांत है और जैसे-जैसे समय बीतता गया है—यह दोषपूर्ण निवेश अधिकाधिक गलत आवंटन की ओर उन्मुख हुए हैं और लगातार संवृद्धि तथा रोजगार के नाम पर अधिक वास्तविक संसाधनों का गलत आवंटन किया गया है। उदाहरणार्थ हम कुछ आगे बढ़ गए और हमने विलास-वस्तुओं और सेवाओं के लिए कारखाने स्थापित कर लिए तथा इन उद्योगों में कार्यशील वर्ग के भाग्यवान सदस्यों के बीच में निहित स्वार्थ उत्पन्न कर दिए। एक योजना के बाद दूसरी योजना बनती गई और हम वित्तीय संसाधनों के आवंटन के लिए बाध्य होते गए। इनमें विदेशी विनिमय उन यूनिटों के रख-रखाव के लिए है जो हमने कभी सोचा था और अब भी सोच रहे हैं, शामिल हैं। और यदि हम इससे विमुख हो जाते हैं

तो हजारों कामगार अपने काम से वंचित हो जाएंगे परन्तु अब समय आ गया है, जब इस देश के राजनीतिक नेतृत्व को अपने दोनों हाथों में शक्ति का संचार करना है और ऊपर बताए गए दोनों उपायों को स्वीकार करना है, अन्यथा इस देश को अवनति के गर्त में जाने से कोई नहीं बचा सकता।

ऊपर बताया गया दृष्टिकोण सामाजिक न्याय (और रोजगार) के आदेश के अनुकूल है जिसमें सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धियों के लिए आवश्यकता है। कृषि के मामले में विनिर्माण उद्योग के क्षेत्र में साधारणतया कोई संघर्ष नहीं है। यह संघर्ष उत्पादन के बढ़ाने और रोजगार के बढ़ाने के बीच में नहीं है। इसके अतिरिक्त बेरोजगारी कम करने के लिए खपत के स्तरों में वृद्धि की जानी है विशेषकर उन सबमें वृद्धि की जानी है जो सबसे अधिक वृद्धि किए गए उपभोग को आवश्यक मानते हैं (और प्रसंगवश, उन सभी के तर्क को पूरा करना है जो देश की आर्थिक स्वतंत्रता को मजबूत बनाना चाहते हैं ताकि राजनीतिक दोषपूर्णता को कम किया जा सके)।

इस मार्ग के आलोचकों को यह बताया जा सकता है कि अधिक जटिल उद्योग यथा—स्टील, चीनी, जूट और सीमेंट के उद्योग भी चलाए जाने के योग्य हैं क्योंकि उन्हें सरकार की सीमा शुल्क संबंधी नीतियों द्वारा विदेशी प्रतियोगिता के विरुद्ध संरक्षण मिल जाता है। अत: अल्यूमिनियम उद्योग को 2 पैसे से 4 पैसे प्रति यूनिट की सस्ती दर से बिजली मिल जाती है जबकि गरीब किसान को 5 से 6 गुना भुगतान करना होता है। राजकीय औद्योगिक विकास बोर्ड अपने-अपने राज्यों में उद्योगों के स्थापित करने के लिए उद्यमकर्ताओं को फुसलाते हैं और उन्हें मुफ्त जमीन, सस्ती दरों पर ऋण, कर में रियायतें, सस्ती बिजली, सड़कें और रेलवे साइडिंग, स्कूल और स्वास्थ्य सुविधाएं और अन्य-अन्य सुविधाएं देते हैं। प्रतिवर्ष चलने वाली टैक्सटाइल्स मिलों पर करोड़ों रुपया व्यय कर दिया जाता है। बड़े पैमाने के क्षेत्रक में गुप्त और खुली सहायताओं के अन्य उदाहरण ऐसे भी हैं जो तथाकथित जनता के हित में होते हैं और उन्हें अबाध गति से आसानी से द्विगुणित किया जा सकता है।

इस बात को एक तरीके से फिर दोहराया जा सकता है : हमारे देश में बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों के बीच कोई वास्तविक चयन नहीं है जैसा कि वास्तविक चयन एक ओर बिजली-चालित उद्योग (बड़े या छोटे उद्योग) और दूसरी ओर हाथ-चालित कुटीर उद्योग के बीच में किया जाता है। दूसरे तरीके से उन गांवों के लाखों लोगों को लाभदायक रोजगार उपलब्ध कराया जा सकता है जो फसल के बोने और काटने के मौसम में व्यस्त रहते हैं लेकिन वर्ष के शेष भाग में बेकार रहते हैं। नगरों और गांवों के बीच में जो 'औपनिवेशिक' सम्बन्ध विकसित हुआ है वह केवल उसी समय मिटेगा जब उपभोक्ता वस्तुएं—साबुन से लेकर कपड़े तक गांव—में पैदा की जाएं और वहीं उन्हें बेचा जाए।

इसलिए कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों के बीच सीमांत रेखा खींचनी होगी और दूसरे को पहले के हित में कम करना होगा अथवा उनका विनियमन करना होगा। यद्यपि बड़े पैमाने के उद्योग की तुलना में छोटे पैमाने का उद्योग स्थायी निवेश

की प्रति यूनिट के हिसाब से अपेक्षाकृत अधिक रोजगार (और अधिकांश मामलों में अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन) उपलब्ध कराता है और प्रत्येक मामले में कुटीर उद्योग की तुलना में अपेक्षाकृत कम रोजगार (और अपेक्षाकृत कम पैदावार) उपलब्ध कराता है। छोटे पैमाने के उद्योग रोजगार बढ़ाने के रूप में कुटीर उद्योगों का स्थान नहीं ले सकते क्योंकि उनकी पूंजी प्रधान प्रकृति बड़े उद्योगों की पूंजी प्रधान प्रकृति के समान होती है लेकिन उन्हें बड़े पैमाने के उद्योगों के विरुद्ध चलाना ही होगा जिसका कारण केवल यह नहीं है कि वे दूसरे की अपेक्षा अधिक श्रम प्रधान हैं लेकिन कारण यह है कि वे राष्ट्रीय आय के वितरण का अपेक्षाकृत समता वाला तरीका सुनिश्चित कराने का उपाय प्रस्तुत करते हैं और पूंजी तथा कुशल कामगारों के संसाधनों की प्रभावकारी गतिशीलता की सुविधा उपलब्ध कराते हैं जो अन्यथा अनुपयुक्त रह जाती है फिर भी उन्हें कुटीर उद्योगों के साथ श्रम की स्थिति में नहीं आना चाहिए जो कुटीर उद्योग हाथ से चलाए जाते हैं जबकि छोटे उद्योग बिजली की सहायता से चलाए जाते हैं और अनेक छोटी यूनिटों का वार्षिक उत्पादन आज करोड़ों रुपयों से भी अधिक है।

इसलिए भविष्य में किन्हीं भी बड़े पैमाने के उद्यमों को स्थापित करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए जो वही वस्तुएं या सेवाएं उत्पन्न करते हैं जिन्हें कुटीर या छोटे पैमाने के उद्यम उत्पन कर सकते हैं और इसी क्रम में किसी भी छोटे पैमाने के उद्योग को स्थापित करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए जो वही वस्तुएं या सेवाएं उत्पन्न करे जिन्हें कुटीर उद्यम उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रकार जबकि छोटे पैमाने के उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों के विरुद्ध बचाए जाने होंगे। कुटीर उद्योग को इन दोनों के ही विरुद्ध बचाना होगा। केवल इसी स्थिति में हम महात्मा गांधी की कल्पना को साकार कर सकेंगे जो उन्होंने 50 वर्ष पूर्व अपने मन में पैदा की थी अर्थात् "उन गांवों की ओर लौट चलो जिन्हें शहरवासियों ने बड़ी निर्दयता और विचारशून्य होकर लूट लिया है।"

यद्यपि कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों को बाह्य प्रतियोगिता से बचाना होगा। इनकी इकाइयों को उनको अपने ही क्षेत्रक में आपस में प्रतियोगिता करने के लिए स्वतंत्र करना होगा। साथ ही छोटे पैमाने के उद्योग की नई यूनिटों को शहर की सीमाओं के अन्दर स्थापित करने की अनुमति नहीं दी जाएगी यदि शहर की जनसंख्या पिछली जनगणना के अनुसार एक लाख से अधिक हो। इसी प्रकार कुटीर या छोटे पैमाने के उद्योग को भी अपना उत्पादन बढ़ाने या जटिल तकनीकों द्वारा चलाए जाने के लिए परिवर्तन के लिए अनुमति नहीं दी जाएगी जब तक कि सरकार की नजरों में देश के प्रत्येक व्यक्ति को काम नहीं मिल जाता और इस परिवर्तन से बेरोजगारी नहीं बढ़ती।

तकनीकों के सीमांकन की आवश्यकता पर केवल जोर ही नहीं बल्कि आग्रह किया जाना चाहिए और इस संबंध में ससैक्स विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर डडले सियर्स एक जाने-माने लेखक हैं। उन्होंने कृषि से बाहर के क्षेत्रों में ऐसी

नीतियों की सिफारिश की है जो "सर्वप्रथम रोजगार को प्रभावित कर सकती हैं। जिन पर इस बात का प्रभाव होता है कि कौन-कौन से उत्पाद तैयार किए जाते हैं और दूसरे इस बात को प्रभावित किया जाता है कि वे उत्पाद किस प्रकार बनाए जाते हैं।"

प्रोफेसर डडले का यह विश्वास है कि श्रम प्रधान तरीकों के पक्ष में उत्पादन की तकनीकों को प्रभावित करना सम्भव है और यह सुनिश्चित किया जाता है कि श्रम और पूंजी की तुलनात्मक लागत उनकी उपलब्धता पर सही तरीके के परिलक्षित होती है लेकिन विकासशील देश (भारत के समान) जिनमें कुछ अपवादस्वरूप देशों, यथा—ताइवान, मिस्र, कोरिया और यूगोस्लोवाकिया, ने विकास के लिए पूंजी प्रधान और श्रम बचत प्रारूप का चयन कर लिया है और इसलिए ऐसी नीतियों का प्रायः अनुसरण कर करते हैं जिनसे श्रम महंगा हो जाता है और पूंजी सस्ती हो जाती है जबकि तथ्य यह है कि श्रम की अधिकता है और पूंजी का अभाव है।

यदि एक बार तकनीकों पर नियंत्रण कर लिया जाए अर्थात् एक बार यह सुनिश्चित कर लिया जाए कि वस्तुएं कैसे बनाई जाती हैं और इसके फलस्वरूप हमारे अधिसंख्यक लोगों में आय का वितरण किस प्रकार किया जाता है—तो हमें इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए कि वस्तुएं किस प्रकार की हैं। क्या वस्तुएं किसी वर्ग विशेष के उभोग के लिए हैं या वस्तुएं आम जनता के उपभोग के लिए बनाई गई हैं? अन्य प्रत्येक बात अपने-आप ही ठीक हो जाएगी। तकनीकों का सीमांकन किए जाने के कारण यह (पूंजी प्रधान) उद्योग विरल अपवादों सहित ऐसी वस्तुएं पैदा करेंगे जिनकी कम आय वाली जनता, जो गांव में अथवा नगरों के आस-पास रहती है, को आवश्यकता होगी।

दक्षिण एशियाई देशों की औद्योगिकीकरण-नीतियों पर चर्चा करते हुए प्रमुख विद्वान स्वीडिश-निवासी अर्थशास्त्री और समाज वैज्ञानिक गुन्नार मिर्डल ने भी आधुनिक क्षेत्रक और पारम्परिक क्षेत्रक को इन देशों में साथ-साथ रहने पर जोर दिया है। उन्होंने इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है:

> "गांव में कुटीर उद्योग के संरक्षण और प्रोत्साहन इस बात में निहित हैं कि दक्षिणी एशिया के कम विकसित देशों को दो विशिष्ट आर्थिक क्षेत्रों को रखना होगा: एक छोटा क्षेत्रक परन्तु शनैः-शनैः विकसित होने वाला क्षेत्रक पूर्णतया यंत्रीकृत बड़े पैमाने का क्षेत्रक और छोटे पैमाने के विनिर्माण उद्यम तथा अति विशाल क्षेत्रक जो लगभग पारंपरिक क्षेत्रकों के समान श्रम प्रधान तकनीकों का उपयोग करते हैं और तेजी से बढ़ने वाले अधिकांश श्रम दल को काम देते रहते हैं। आधुनिकीकृत क्षेत्रक श्रम बचाएगा और आगे आने वाले काफी समय तक अधिक रोजगार नहीं पैदा करेगा जबकि श्रम दल तेजी से इस शताब्दी के अन्त तक बढ़ेगा। यह तरीका केवल पारंपरिक तरीका नहीं हो सकता; यह एक ऐसे तरीके के रूप में स्वीकार किया जाएगा जो कई

दशाब्दियों तक बना रहेगा ।"[3]

अनिल अग्रवाल ने प्रोफेसर गुन्नार मिर्डल से एक प्रश्न किया और प्रोफेसर गुन्नार ने इस प्रश्न का उत्तर अपने उस साक्षात्कार के दौरान दिया जो जनवरी 1973 में लिया गया था :

औद्योगिक प्रगति

अनिल : औद्योगिक क्षेत्रक की बात पर आ जाइए तो मुझे यह पता चलता है कि आपने अपनी पुस्तकों में औद्योगिक विकास पर बहुत कम ध्यान दिया है । यह भी रोचक है कि इस शताब्दी के सातवें दशक के अंतिम वर्षों में ऐसे अर्थशास्त्री की कृतियों का अध्ययन किया जाए जो कुटीर, ग्रामीण उपभोक्ता के अनुकूल उद्योगों पर गांधी जी के विचारों के औचित्य पर विशेष बल देता हो ।

लेकिन जब आप औद्योगिकीकरण के महत्त्व पर अधिक बल नहीं देते और यह कहते हैं कि भारत जैसे देशों को कृषि पर अधिक केन्द्रित होना चाहिए तो क्या आप उस जाल में नहीं फंसे हुए हैं जो सभी औद्योगिकीकृत देशों के अर्थशास्त्रियों ने सब कुछ कहा है जबकि उन्होंने कम औद्योगिकीकृत देशों के अध्ययन के विषय में प्रयास किया है ?

मिर्डल : मैं सबसे पहले यह कहना चाहूंगा कि मैं औद्योगिकीकरण का पूर्ण पक्षपाती हूं । आधुनिक उद्योग को यथाशीघ्र आगे बढ़ना चाहिए जितना कि आप उसे आगे बढ़ा सकें क्योंकि इस शताब्दी के अन्त में यदि भारत के पास उद्योग में अपने कामगारों का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक नहीं है तो मुझे ऐसा नहीं लगता कि वर्तमान जनसंख्या की वृद्धि के बावजूद आप लोग अपनी जनता की वर्तमान जीवन-निर्वाह की दयनीय स्थिति को भी उन लोगों को उपलब्ध करा सकेंगे ।

लेकिन मैं यह सोचता हूं कि हमको यह याद रखना चाहिए कि औद्योगिकीकरण से अपेक्षाकृत अधिक रोजगार नहीं मिलता । औद्योगिकीकरण की अर्थ यह है कि अपेक्षाकृत कम रोजगार बनते रहे चाहें हस्तकला और पारंपरिक उद्योग में ही औद्योगिकीरण को प्रमुखता क्यों न दी जाए और इसी बीच में यह कोई अकेला समाधान नहीं है । अब कृषि एक बहुत बड़ा उद्योग है और आपको अपनी पैदावार बढ़ाने के लिए कार्य करना चाहिए क्योंकि यह पैदावार बहुत हीं कम है ।

इस प्रकार महात्मा गांधी न तो 'प्रतिक्रियावादी' थे और न 'अराजकतावादी' जैसाकि हमारे 'प्रगतिवादी' उनको कहना पसन्द करेंगे । कम से कम वह आधुनिक अर्थशास्त्रियों से दो पीढ़ी आगे थे । यदि पर्याप्त और बढ़ती हुई बेरोजगारी तथा कम

3. 'एशियन ड्रामा', पृष्ठ 1239.

रोजगार और तुलनात्मक रूप से पूंजी का अभाव देखा जाए तो गांधी जी के जो भी विचार रहे हैं वे आज के परिवेश में भी संगत हैं। अब केन्द्र सरकार को बहुत कुछ करना है क्योंकि केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि महात्मा गांधी की पवित्र स्मृति का आभास करते हुए सौंगध खाते हैं और आगे बढ़ते हैं तथा सीमांकन कानून बनाते हैं और अन्य आवश्यक कदम भी उठाते हैं 'ताकि महात्मा गांधी के उस स्वप्न को साकार कर सकें जो उन लाखों लोगों के हित में है जिनके कन्धे पर चढ़कर हम वास्तव में कुर्सियों पर आ धमके हैं। पर इससे कम में कुछ भी संभव नहीं है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी की तीव्र गति से प्रगति और नए औद्योगिक पैटर्न के कारण भारी अथवा बड़े पैमाने के पूंजी प्रधान उपक्रमों के रूप में आर्थिक संकेन्द्रण एक आवश्यक प्रक्रिया है जब तक कि इस पर कानून और राज्य सरकार की समान शक्ति द्वारा अवरोध न लगाया जाय। बाजार अथवा आर्थिक ताकतों की दया पर छोड़ दिया जाए तो छोटे व्यापार का भविष्य अंधकार में है और बेरोजगारी की तीव्र वृद्धि निश्चित है और इसके परिणामस्वरूप साम्यवाद का अधिग्रहण अवश्य ही होगा।

एक बार 'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली, ने 1974 में अपने सम्पादकीय स्तंभ में यह टिप्पणी दी थी :

> गांधी जी का सही विचार था। वह क्रांतिकारी ये और उन्होंने जिस नए समाज की कल्पना का विचार किया था, वह अपने में पूर्ण संकल्पना थी। उनका दर्शन समन्वयपूर्ण था और वह दर्शन तदर्थ रूप से समझौता करने वाला दर्शन नहीं था। वे बड़े ही व्यावहारिक व्यक्ति थे जिन्होंने जनता को लेकर अपने कार्य सम्पन्न किए थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे भारतीय समाज में प्रबुद्ध पश्चिमी प्रतिरोपकों को अस्पष्ट, विनोदी और कुछ सनकी से लगते थे। महात्मा जी पुराने तौर-तरीके से कहीं अलग हटकर अपने समय से कहीं आगे थे। उन्होंने प्रदूषण, पर्यावरण, जलवायु विज्ञान और परिचक्रण जैसी समसामयिक चिंताओं का पूर्वानुमान कर लिया था।

वास्तव में यह महत्वपूर्ण है कि गुन्नार मिर्डल ने "नई दिल्ली के अर्थशास्त्रियों में से" केवल गांधी जी को ही अकेला अर्थशास्त्री माना है जिनसे वे प्रभावित हुए थे।

सड़कें, परिवहन और निर्माण

विनिर्माण के बाद कृषीतर क्षेत्रक के उपक्षेत्रकों में सड़कें, परिवहन और निर्माण अधिकतम रोजगार उपलब्ध कराते हैं। इन संसाधनों से आजकल कहीं अधिक योगदान की व्यवस्था की जा सकती है, अलबत्ता अभी तक निर्माण के कार्य में मशीनों का उपयोग न करने का निर्णय किया गया है। खाद्यान्न और परिधान के बाद आवास या आश्रय मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है लेकिन हमारे देश में करोड़ों लोग बिना

छत के रह जाते हैं। इसी प्रकार जबकि सड़कें (परिवहन के साथ-साथ) आर्थिक संवृद्धि के लिए महत्वपूर्ण हैं लेकिन प्रति लाख व्यक्तियों की दर से उनकी मीलों में लम्बाई भारत में कहीं कम है जबकि विश्व के कई देशों में सड़कों की लंबाई अधिक है।

विकासशील क्षेत्रों में नई सड़क का निर्माण ऐसे क्षेत्रों में उपलब्ध संसाधनों के प्रयोग का उपयोगी अवसर प्रदान करता है। इससे फसल उगाने के पैटर्न पर प्रभाव पड़ता है, निवेशों की आपूर्ति की सुविधाएं बढ़ती हैं, बाजार में बेचने योग्य बेशी की मात्रा में वृद्धि होती है, उत्पादक के लिए अपेक्षाकृत अच्छी कीमत मिल जाती है, श्रम की गतिशीलता प्रोन्नत होती है और उन उद्योगों के विकास की कमी की पूर्ति होती है जो स्थानीय उपलब्ध कच्चे माल के उपयोग से स्थापित किए जा सकते हैं और जो अन्यथा बेकार ही रह जाते हैं यदि उत्पादों की उन क्षेत्रों में परिवहन नहीं किया जा सकता, जहां उनकी आवश्यकता है।

डी० एम० ननजुन्दप्पा ने कहा है :

> "सड़कों के आर्थिक लाभों का मूल्यांकन करने में उनके रोजगार के प्रभाव को यथोचित रूप से पहचाना नहीं गया है। सड़कें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार के अवसर पैदा करती हैं। प्रत्यक्ष रोजगार का संबंध योजना और निर्माण के लिए आवश्यक तकनीकी कर्मचारियों से होता है और साथ ही साथ रख-रखाव को शामिल करते हुए सड़क-निर्माण कार्य में लगाए गए अर्धकुशल श्रमिकों से भी इसका संबंध होता है।"[4]

1961-81 सड़क योजना के अनुसार निर्माण कार्य पर 19 करोड़ रुपए का वार्षिक व्यय और रख-रखाव पर 50 लाख रुपए के वार्षिक व्यय से काम-धन्धों के अवसरों का निर्माण हुआ है जो प्रति वर्ष निम्नलिखित तकनीकी कर्मचारियों के लिए है :

तालिका 144

तकनीकी कर्मचारियों के लिए काम-धन्धों के अवसर

तकनीकी कर्मचारियों का वर्ग	निर्माण और योजना के लिए	रख-रखाव के लिए
स्नातक	360	18
डिप्लोमाधारी	1080	53
अन्य तकनीकी कर्मचारी वर्ग	1125	62

'निर्माण' के मापदण्ड के हिसाब से विकास की विभिन्न मदों में सड़क निर्माण कार्यों में रोजगार सबसे अधिक होता है। यदि सड़कों के निर्माण पर एक करोड़ रुपए

4. भारत सरकार, 'भारत सड़क-विकास योजना पर मुख्य अभियंता की रिपोर्ट' (रिपोर्ट ऑफ द चीफ इंजीनियर ऑन रोड डवलपमैंट प्लांट फार इंडिया, 1961-81), नई दिल्ली, 1958, पृष्ठ 78-79.

का व्यय किया जाय तो सड़कों के 'निर्माण' के लिए रोजगार के मापदण्ड के हिसाब से लगभग 10,450 व्यक्ति काम पर लगाए जायेंगे जबकि इसकी तुलना में इतने ही कृषि उत्पादन के लिए 5,200; वन और भूमि संरक्षण के लिए 8,000; गृह-निर्माण के लिए 5,000; बड़े और मध्यम सिंचाई निर्माण के लिए 7,000 तथा बड़े और मध्यम उद्योगों के लिए 1,700 व्यक्तियों की आवश्यकता होगी। परन्तु इतनी ही राशि के व्यय के लिए लगातार रोजगार सड़कों के निर्माण के लिए अपेक्षाकृत कम होगा। यह लगभग 1,000 होगा जबकि इसकी तुलना में कृषि उत्पादन के लिए 1,250 होगा और छोटे सिंचाई निर्माण कार्यों के लिए 3,200; बड़े और मध्यम उद्योगों के लिए 1,270; ग्रामीण और छोटे उद्योगों के लिए 3,000 आवास के लिए 300 तथा सड़क परिवहन के लिए 2,500 की आवश्यकता होगी।"[5]

जहां तक अप्रत्यक्ष रोजगार का संबंध है, औद्योगिक और कृषि उत्पादन में वृद्धि जो सड़कों के पूरा हो जाने के बाद होती है, नए रोजगार के अवसर पैदा करती है। उदाहरण के लिए तमिलनाडू में रामनद-मन्दापम सड़क के पूरा हो जाने पर औद्योगिक रोजगार में वृद्धि हुई अर्थात् चटाइयों और फैंसी वस्तुओं के विनिर्माण में 19 प्रतिशत और संबंधित क्षेत्रों में गुड़ के निर्माण में 94 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

तमिलनाडू में कावेरी नदी पर केवल पुल के निर्माण से ही आस-पास के गांवों में बिजली से चालित करघों की संख्या 100 से बढ़कर 2,500 और हथकरघों की संख्या 1,000 से बढ़कर 3,000 तक हो गई है और इस प्रकार कुछ ही वर्षों में अतिरिक्त काम-धन्धों की संख्या 15,000 हो गई है।

सड़क का निर्माण हो जाने पर शीघ्र ही बस और ट्रक चलने लगते हैं। यदि रेल लाइन के समानान्तर सड़क भी हो तो ऐसी स्थिति को छोड़कर अन्यत्र सड़कों के तैयार हो जाने पर सवारी और माल ढोने वाली गाड़ियों की मांग बढ़ती जाती है जबकि इससे पूर्व इसकी मांग प्रसुप्त रही थी, और इस मांग की पूर्ति होने लगती है जिसके फलस्वरूप सड़कों पर बस और ट्रक चलने लगते हैं। यातायात में सकल वृद्धि होती है, इसमें कोई विशाखन नहीं होता।

जहां तक रोजगार का संबंध है, यह अनुमान लगाया गया है कि सड़क परिवहन पर लगाए गए प्रति करोड़ रुपए के निवेश से 10,435 काम-धन्धों का सृजन होता है जबकि ऐसी ही परिस्थिति में रेल में 200 काम-धन्धों का ही सृजन हो पाता है।

इसके अलावा वित्तीय लाभ की दृष्टि से सड़क परिवहन उद्योग ने सड़क विकास के प्रत्येक निवेश को कई गुना कर दिया है। 1952 में 6/3 करोड़ रुपए का निवेश था जबकि यह निवेश बढ़कर 1960 में 552.3 करोड़ रुपए हो गया है।

घरों अथवा भवनों के निर्माण का जहां तक संबंध है, भारत सरकार अभी हाल ही तक दिल्ली स्थित हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी के आधार परक ई प्रीफेब्री-

5. 'टूवर्ड्स सोशालिस्ट ट्रान्सफोर्मेशन ऑफ इंडियाज इकनॉमी', अशोक वी० भूलेश्कर द्वारा संपादित पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1972, पृष्ठ 285.

के ट्रेड हाउसिंग फैक्टरियों को स्थापित कराने की योजना को आगे बढ़ा रही थी। उत्तर प्रदेश सरकार ने यह निर्णय किया कि वर्ष 1973-74 में देहातों में 5,000 बुनियाद, स्कूलों की इमारतें निर्मित करा दी जाएं और प्रत्येक स्कूल की इमारत प्री-फेब्रीकेटेड सामग्री से बनाई जाए जिसमें प्रति स्कूल 10,000 रुपए की लागत लगेगी। इस मामले में रोजगार के प्रश्न को छोड़ ही दिया जाए, जो आवश्यक रूप से कम ही होगा और यह निर्माण कार्य कराया ही गया जबकि इस बात के साक्ष्य स्पष्ट थे कि पारंपरिक निर्माण कार्य की अपेक्षा प्री-फेब्रीकेटेड गृह—निर्माण कार्य महंगा था। इस तथ्य की जानकारी प्रेस रिपोर्ट से विदित होती है :

> नई दिल्ली, 12 मई 1973 (यू० एन० आई०, पी० टी० आई०) निर्माण और आवास राज्य मंत्री ओम मेहता ने समीप ही किसी स्थान पर सरकारी पंजीकृत ईंट संयंत्र की दूसरी शिफ्ट का उद्घाटन किया है जो यह दावा करता है कि पारंपरिक ईंटों की अपेक्षा तीन गुनी शक्ति वाली ईंटों का निर्माण किया जाएगा और इससे भवन निर्माण की लागत में सात प्रतिशत तक की बचत हो जायेगी। यह संयंत्र सुल्तानपुर गांव के 57 एकड़ क्षेत्र में स्थापित किया गया। यह गांव यहां से 20 किलोमीटर है। इस संयंत्र की स्थापना 1966 में निर्माण और आवास मंत्रालय के राष्ट्रीय भवन निर्माण निगम द्वारा की गई थी। यह संयंत्र रूसी जानकारी और मशीनरी की सहायता से लगभग 40 लाख रुपए की लागत से निर्मित किया गया था। देशी ढंग से निर्मित छः यंत्रीकृत ईंट संयंत्रों को 1973-74 में कश्मीर, पंजाब, हरियाणा और महाराष्ट्र के औद्योगिक विकास निगम को दे दिया जाएगा।

शायद भाग्यवश मंत्री के ये स्वप्न साकार न हो सके। 12 फरवरी, 1981 के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार सरकार ने अपने राष्ट्रीय भवन निर्माण निगम को यंत्रीकृत ईंटों के संयंत्र को बन्द करने के आदेश दे दिए जो छतरपुर के पास गुन्तानी गांव में स्थापित किया गया था। इस संयंत्र में बढ़ते-बढ़ते 2 करोड़ रुपए की हानि हो गई। यह हानि इस संयंत्र पर लगभग 60 लाख रुपए के निवेश के अलावा थी।

इस संयंत्र के लिए स्थापना के प्रारम्भ से ही दूरदर्शिता और योजना का अभाव अभिशाप ही बना रहा। यह विचार था कि बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था और बड़े पैमाने पर उत्पादन द्वारा निगम यंत्रीकृत ईंटों के विनिर्माण की लागत को पूरा करने में समर्थ होगा।

फिर भी 1973 तक संयंत्र के आस-पास की मिट्टी कम होने लगी और ईंटें तैयार करने के लिए बाहर से मिट्टी मंगाई जाने लगी। कोयले की कीमतों में वृद्धि हो गई अतः हानियां होने लगीं।

इसी प्रकार प्री-फेब्रीकेटेड पुलों का निर्माण किया जाने लगा जबकि हमारे वे हजारों लोग कार्यस्थल के आस-पास बेकार रहने पर बाध्य कर दिए गए जो समान

कार्यकुशलता से इन पुलों का निर्माण-कार्य सम्पन्न कर सकते थे ।

सड़कों और भवनों के अलावा रेलवे ट्रैक और सिंचाई अथवा जल-विद्युत जलाशय तथा बांधों का निर्माण किया जाना है जिनकी आज आवश्यकता है और जिनका आज निर्माण किया जा रहा है । इन सभी निर्माण-कार्यों को हाथों के श्रम से पूरा किया जा सकता था और अन्य श्रम प्रधान तरीकों से लाखों काम-धन्धों के रूप में तत्काल और ऊंचे लाभांश मिल सकते थे । इसलिए घरों, रेल पटरियों अथवा किसी भी प्रकार के सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के सम्पन्न करने के लिए मशीनरी का उपयोग नहीं करना चाहिए अथवा मशीनरी का उपयोग जारी नहीं रखना चाहिए । यदि आदमी प्राचीन मिस्र में पिरेमिडों का निर्माण कर सकता था और मध्ययुगीन भारत में ताजमहल बना सकता था अथवा अभी हाल ही में, दूसरे विश्वयुद्ध के वर्षों में, वह चीन और बर्मा में हवाई अड्डों और सड़कों का निर्माण कर सकता था, और यह सभी कार्य हाथों के श्रम से पूरे किए गए हैं, फिर ऐसा कोई कारण नहीं है कि वह मशीनों की सहायता के बिना लगभग सभी प्रकार के सार्वजनिक निर्माण-कार्यों को पूरा न किया जा सके ।

हमारे यहां विशाल मानव शक्ति उपलब्ध है अत: धरती खोदने वाले और मिट्टी हटाने वाले विशाल संयंत्र अनावश्यक हैं, अपितु इनसे बेरोजगारी बढ़ती है। आखिरकार सड़कें, पुल, भवन और बांध अथवा जलाशय को विश्व के बाजारों में प्रतियोगिता की आवश्यकता नहीं है अत: यंत्रीकृत रूप से उनका निर्माण आवश्यक है । लेकिन हमारी सरकार को मशीनों की झक है । इसलिए मिट्टी हटाने वाले उपस्कर को तैयार करने वाले नए संयंत्र के लिए 515 करोड़ रुपए की लागत की आवश्यकता होगी । इस प्रकार के संयंत्र का उद्घाटन 16 फरवरी, 1973 को केन्द्रीय औद्योगिक विकास मंत्री श्री सी० सुब्रमनियम द्वारा तमिलनाडू के तिरिवेलोर में किया गया था । इस संयंत्र के लिए राष्ट्रपति और केन्द्रीय योजना मंत्री के आशीर्वाद प्राप्त हुए ।

नीचे हम 9 मार्च, 1975 के 'टाइम्स ऑफ इंडिया', नई दिल्ली के लेख को उद्धृत कर रहे हैं । इस लेख में जे०एस० गुप्ता ने हमारी प्राचीन वास्तुकला के पुनरुद्धार का तर्क दिया है जो अधिक रोजगार उपलब्ध कराएगी और इस्पात तथा सीमेन्ट के खर्चे को कम करायेगी :

ईंट और चूना फिर वापस लाओ

स्वतंत्र भारत के आगमन और राजकुमारों की शक्तियों तथा आय-स्रोतों की कटौती के कारण संगीतज्ञों, कलाकारों और कारीगरों ने अपना राजसी संरक्षण खो दिया । संगीतज्ञों और कलाकारों के सामने जो मुसीबतें आईं उनमें

से कुछ मुसीबतें सार्वजनिक संस्थाओं और निजी संरक्षण से दूर हो गई हैं लेकिन बहुमूल्य भारतीय विरासत में भवन-निर्माण की जो कला थी उसे भारत के स्वतंत्र होने के बाद कोई समर्थन नहीं मिल सका और अब यह कला तेजी से लुप्त होती जा रही है। इस कला के समाप्त होने पर न तो कोई रोने वाला है और न कोई शोक मनाने वाला है।

यह सर्वविदित है कि भारतीय वास्तुकला शानदार मुगलकाल में शीर्ष पर पहुंच गई थी लेकिन इस कला ने 18वीं और 19वीं शताब्दियों तक भी अपनी शक्ति और गरिमा प्रदर्शित की जबकि देश के अधिकांश भागों में हलचल और अशांति फैली हुई थी। यद्यपि यह कला राजनीतिक सत्ता के मान्यता प्राप्त स्थानों से हटकर अन्य स्थानों में क्रियाशील हो गई थी। वाराणसी, वृन्दावन और राजस्थान के कुछ भागों में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे भवनों और कला-कृतियों का निर्माण हुआ जिनसे भारतीय भवन-निर्माण परंपरा की शक्ति सिद्ध होती है।

यह विडंबना है कि इस उपमहाद्वीप में ब्रिटिश राज्य के स्थापित होते ही भारतीय भवन-निर्माण परंपरा क्षीण होने लगी। लोक निर्माण कार्य विभागों की स्थापना से भी इस संबंध में कोई सहायता नहीं मिली। रुड़की कालेज जैसी तकनीकी संस्थाएं स्थापित की गईं जिनमें भवन निर्माण के प्रशिक्षण के लिए जो पाठ्यक्रम और तरीके अपनाए गए वे भारतीय परम्परा से नितांत भिन्न थे जिसका मुख्य कारण यह था कि औपनिवेशिक सत्ता की सैन्य और प्रशासकीय आवश्यकताओं के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाता था। पश्चिमी वैज्ञानिक तकनीकों से एंग्लो-इंडियन भवनों के मिले-जुले प्रकार के निर्माण होने लगे और इस प्रकार कई कैंटोनमेंट और रेलवे स्टेशन आदि बनाए गए।

यह आश्चर्यजनक बात है कि भारतीयों ने इस प्राचीन कला की अवहेलना की है और करते रहे हैं लेकिन कतिपय प्रमुख ब्रिटेनवासियों ने हमारे श्रेष्ठ भवन-निर्माण और कारीगरों की ओर से इस कला को किसी न किसी रूप में जीवित रखा—चाहे उनका यह प्रयास निष्फल ही क्यों न हुआ हो। फरवरी, 1913 में जब नई दिल्ली शहर के निर्माण की योजनाएं अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही थीं उस समय भारत के सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट मार्किस ऑफ़ क्रियू को विनयपूर्वक आवेदन पत्र प्रस्तुत किया गया जिसमें यह प्रार्थना की गई थी कि नई दिल्ली शहर के निर्माण का कार्य भारतीय कारीगरों को सौंपा जाए और इस आवेदन पत्र में इस बात का उल्लेख किया गया कि "भारत में अब भी शीर्ष भवन-निर्माता और कारीगर हैं तथा इस देश की दो हजार वर्षों से अधिक अवधि की अक्षुण्ण भवन निर्माण-परंपरा रही है···।"

आवेदकों ने यह निवेदन किया कि प्रश्न इस बात का नहीं है कि किस शैली में निर्माण-कार्य किया जाय बल्कि मुख्य विषय यह है कि नए शहर का किस तरीके से निर्माण किया जाए और यह प्रस्ताव किया कि केवल उसी

तरीके का अनुकरण किया जाए जिसने "हमें वैस्टमिन्स्टर ऐबी, सेंट सोफिया, सेंट पीटर, रोम, भारत में ताज, अकबर और शाहजहां के महल और इससे पूर्व समय के महान निर्माण-कार्य हैं । यह तरीका शीर्ष भवन-निर्माता अपने कारीगरों के साथ सरल अनुदेश प्राप्त करके कार्यस्थल पर उस सभी सामग्री से भवन-निर्माण करेंगे जिनमें उनका काम करने का अभ्यास है···।"

आवेदकों ने यह भी कहा कि "सामान्य रूप से यह ठीक ही है कि इंगलैंड और भारत के लिए कलात्मक और नैतिक रूप से ही यह शुभ नहीं है बल्कि व्यापक रूप से विश्व के लिए भी शुभ है कि जीवित कारीगरों की कला को सही ढंग से उन्हें काम पर लगाकर समाप्त होने से बचा लिया जाए ।" इस आवेदन पत्र पर हस्ताक्षर करने वालों में जी० बी० एस० एलफ्रैंड आस्टिन, राष्ट्रकवि डॉ० आनन्द कुमारस्वामी, कई सांसद और लोकनेता शामिल थे, जिनकी संख्या कुल मिलाकर लगभग 180 हो गई । भारतीय भवन-निर्माण कारीगरों को कभी भी ऐसे सुवक्ता समर्थक नहीं मिले थे ।

चंडीगढ़, गांधीधाम और भुवनेश्वर जैसे स्थानों में स्वातंत्र्योत्तर भवन-निर्माण के कार्यक्रमों के प्रति उत्तरदायी प्राधिकारियों के समक्ष भी इस प्रकार का आवेदन पत्र दिया जाना अधिक उपयुक्त था । लेकिन नई दिल्ली के विषय में प्रमुख अंग्रेजों ने जो नेतृत्व किया था उसका अनुसरण किसी भी भारतीय ने नहीं किया ।

सम्पूर्ण विश्व बीजापुर और गोलकुंडा के भवन-निर्माताओं की इंजीनियरी, कार्य-कुशलता और फतेहपुर सीकरी और आगरा में प्रदर्शित वास्तुकला विशेषज्ञता को देखकर चकित हो जाता है । लखनऊ के इमामबाड़ों के (18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निर्मित) के निर्माताओं ने संरचनात्मक बोध के प्रति साहस और उच्च कला का प्रदर्शन किया है और उनके निर्माण काफी समय बीत जाने पर भी बने हुए हैं । हमने प्रसिद्ध इतिहासकार दम्पति विल और एरियल डूरैंट के लेखक की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है जो यह व्यक्त करती है कि मद्रास, मदुरई और तिरुचिरापल्ली के मन्दिर, इस विश्व में सबसे आकर्षक भवन हैं ।" (देखिए 'द लेसन्स ऑफ़ हिस्टरी')

बड़े-बड़े गुंबदों के निर्माण की कला कितनी अद्‌भुत है, जबकि इस कला का लोप हो चुका है । इन विशाल गुंबदों के निर्माण में देसी सामग्री का प्रयोग किया गया था और आधुनिक सामग्री इस्पात और सीमेंट का प्रयोग नहीं हुआ था । यह दुःखान्त घटना ही है यदि कला के संरक्षण के अभाव से कला सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाए । शायद गुजरात में उत्कृष्ट वास्तुकला की विरासत है और यह कहा जाता है कि 16वीं शताब्दी के प्रारंभ में अहमदाबाद हिन्दुस्तान का सबसे सुन्दर नगर था और शायद पूरे विश्व भर में इसी नगर को सुन्दर माना जा सकता था । इसका रहस्य यह था कि भारतीय कारीगरों को इस राज्य की नई राजधानी में निर्माण-कार्य करने के लिए अपनी

कार्य-कुशलता दिखाने के अवसर दिए गए थे।

आधुनिक वास्तुकला की दृष्टि से चंडीगढ़ एक उत्कृष्ट नगर है। यह नगर औद्योगिक और सम्पन्न समाज के प्रयास का प्रतिफल है। यह न तो आवश्यक ही है और न सुविधाजनक ही है कि हम अपने देश में तथाकथित निर्माण माध्यम की आधुनिक वास्तुकला को थोपें।

प्रबलित सीमेंट कंक्रीट का प्रारंभ दोनों ही देहाती क्षेत्रों और छोटे नगरों में भवन-निर्माण की तकनीकों पर दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव डालता है। पारंपरिक निर्माण की तकनीकें इस भुलावे के विचार से विस्तृत की जा रही हैं कि प्रबलित सीमेंट कंकरीट का प्रयोग प्रगति और आधुनिकता का प्रतीक है। यद्यपि उनकी प्रौद्योगिकी के प्रति प्रयोगकर्त्ताओं की समझ सतही और यांत्रिक है। निस्संदेह प्रबलित सीमेंट कंकरीट के 'निर्माण कार्यों' की गुणवत्ता, इसके व्यापक प्रयोग के लिए एक बड़ा प्रोत्साहन है।

अतीत काल में शीर्ष भवन-निर्माता वास्तुविद्, संरचनात्मक इंजीनियर और निर्माण विशेषज्ञ की भूमिका स्वयं ही अदा करना था लेकिन उसके कबीले का लगभग लोप ही हो गया है और उनके स्थान पर किसी भी विश्वसनीय संस्था का जन्म नहीं हुआ है। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि महानगरों के क्षेत्र से बाहर निर्माण कला के कौशल के क्षेत्र में बहुत बड़ा अभाव है।

वर्तमान आर्थिक दबाव कुछ भी ऐसा चुनने के लिए नहीं छोड़ते बल्कि हमें अपनी प्रवृत्तियों और व्यवहारों में कठोर परिश्रम ही करना है। 25 वर्षों से अधिक समय हो गया, तब से हम बराबर अपने जीवन के सभी पक्षों में आधुनिक प्रौद्योगिकी की कपोल कल्पना का अनुसरण कर रहे हैं और इस अभाव का वर्तमान वातावरण शायद इस अथक प्रयास का ही अंशतः कारण हो। हमारे सीमित ऊर्जा-संसाधनों और कुल मिलाकर प्रौद्योगिकीय अक्षमता की दृष्टि से स्पष्ट मार्ग यह है कि चयन किए गए तरीके में प्रौद्योगिक प्रक्रियाओं को लागू करें।

आधुनिक प्रौद्योगिकी में कोई विशिष्टता नहीं है। भारतीय अर्थव्यवस्था में ऐसे श्रम हैं जहां प्रौद्योगिकीय तकनीकें कुशलता से कार्यक्रम को पूरा ही नहीं करतीं (और इस प्रकार अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण उपयोग के लिए औद्योगिक क्षमता को मुक्त करती हैं) अपितु कई पक्षों में समाज के लिए अधिक उच्च और अधिक लाभ को भी सिद्ध करती हैं।

सिविल इंजीनियरी निर्माण का क्षेत्र भारतीय अर्थव्यवस्था का एक ऐसा क्षेत्रक है जो अनेक संभावनाएं प्रस्तुत करता है यदि हमारा सुझाव पारंपरिक प्रौद्योगिकी की ओर हो। राष्ट्रीय प्रयत्न का सबसे अधिक सशक्त भाग सिविल इंजीनियरी निर्माण-कार्यों में लगता है—चाहे वह गृह-निर्माण, रेल, सिंचाई, बिजली-विकास या राज-मार्ग ही क्यों न हों। यह कहा गया है कि

पांचवीं पंचवर्षीय योजना में निवेश का पचास प्रतिशत से अधिक भाग निर्माण-कार्यकलापों में ही संभवत: लगा दिया जाएगा। इस निर्माण-कार्य का विशिष्ट भाग पुरानी प्रौद्योगिकी के प्रयोग के लिए संशोधनीय है। औद्योगिक संरचनाओं, बिजलीघरों, डाक और बन्दरगाहों को छोड़कर पुराने निर्माण की विधियों (जहां कहीं भी संभव हो उन्हीं के उपयुक्त संशोधित और उन्नत) व आवश्यकतओं की पूर्ति कर सकती हैं।

निर्माण के लिए पारंपरिक तकनीकें अभी हाल ही के समय तक प्रयोग में आती रही हैं और वे केवल उसी समय क्षीण होने लगीं, जब से आधुनिक प्रौद्योगिकी के उत्पादन अर्थात् इस्पात और सीमेंट खुले आम उपलब्ध होने लगे हैं। 19वीं शताब्दी के अन्त के वर्षों में भी पुराने निर्माण की विधियों का प्रभावकारी ढंग से प्रयोग किया जाता था। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण यह है कि कालका-शिमला रेलवे लाइन निर्मित की गई जो 1899 में प्रारंभ की गई थी। इस संबंध में इस बात पर ध्यान देना रोचक है कि रेलवे इंजीनियर श्री पी० एस० ए० बैंरिक ने कालका-शिमला रेलवे के बारे में अपनी रोचक पुस्तक—'कपलिंग टु द खैंबर' में कहा है :

> "कालका-शिमला रेलवे की मुख्य विशेषता यह है कि इसके निर्माण में ऐसे पूर्णतया गर्डर द्वारा पुल निर्माण और बहुमहराब द्वारा गैलरियों का अभाव है जो विश्व के प्राचीन रोमन जल-सेतुओं के निर्माण के अनुरूप है। इस रेलवे-लाइन के निर्माण में पर्वत-स्कंधों के बीच में से तंग घाटियों को पार करके निर्माण के पुराने तरीके को अपनाया गया है।"

इससे पूर्व कि कोई यह कहे कि इस प्रकार के तरीके में मद्धिम प्रक्रिया होती है, यह कहना है कि यह बात सिर्फ कहने की है। कालका-शिमला रेलवे परियोजना 1899 में प्रारंभ की गई थी और 1903 में इसे पूरा कर दिया गया। 60 मील लंबी रेलवे-लाइन के पूरा करने में समुद्री सतह 2,143 फुट से ऊपर उठकर 6,810 फुट तक में निर्माण-कार्य किए जाने थे, जिनमें 103 सुरंगें और कई पुल शामिल किए गए थे और इस निर्माण-कार्य को चार वर्षों की अवधि में पूरा कर लेना वर्तमान भारतीय मापदंडों के अनुसार उल्लेखनीय उपलब्धि है।

यह स्पष्ट है कि ऐसे समाज में जहां मानव-शक्ति की प्रचुरता हो, श्रम-प्रधान तकनीकों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। आजकल जबकि बिजली के अभाव, बड़े पैमाने पर बेरोजगार और औद्योगिक क्षमता तथा कच्चा माल, यथा—इस्पात और सीमेंट के अभाव के कारण निर्माण-कार्य के लिए पारंपरिक पद्धति, सिविल इंजीनियरी निर्माण-कार्यों के लिए बड़ा कार्य-क्षेत्र है।

इस्पात की आपूर्ति में कमी है और विकास-योजनाओं के कार्यान्वयन में एक बड़ा गतिरोध पैदा हो गया है। हमारे देश को प्रतिवर्ष प्रति टन 2

हजार रुपए से अधिक मूल्य की दर से लाखों टन मुलायम इस्पात का आयात करना होता है और इस प्रकार 2 हजार करोड़ रुपए से अधिक की विदेशी मुद्रा की हानि उठानी पड़ती है। हम 2.1 करोड़ टन से अधिक कच्चा लोहा लगभग 60 रुपए प्रति टन के हिसाब से निर्यात करते हैं जिसके फलस्वरूप लगभग 120 करोड़ रुपए की विदेशी मुद्रा हमें मिल पाती है। इस प्रकार हम औपनिवेशिक युग के शोषण की स्थिति में उलझे रहते हैं। जब शासन सत्ता ने अपने उपनिवेशों के उद्योगों की पूर्ति के हेतु कच्चा माल प्राप्त किया था और इस विडंबना को बढ़ाने वाला तथ्य यह है कि हम इस शोषण के स्वेच्छा से ही अनुमति देते हैं।

रूढ़िवादी अनुमान के अनुसार लगभग दस लाख टन इस्पात (आयात की गई मात्रा के समान) का उपयोग आवास-गृहों और कार्यालय भवनों के निर्माण के लिए किया जाता है। राजमार्गों, रेलों और नहरों पर छोटे पुलों और पुलियों के निर्माण के लिए इतनी ही अधिक इस्पात की मात्रा की आवश्यकता है। इस सीमित क्षेत्र में पारंपरिक प्रौद्योगिकी को प्रारंभ कर दिया जाए जिसमें मेहराबों के निर्माण का अधिक प्रयोग किया जाता है तो इससे इस्पात की काफी बचत होगी और इस्पात का आयात है (विशिष्ट इस्पात को छोड़कर) अनावश्यक हो जाएगा और इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक इस्पात औद्योगिक उत्पादन के लिए उपलब्ध होगा।

यह अनुमान लगाया गया है कि छोटे पुलों और पुलियों में एक टन इस्पात का स्थान लगभग 11,000 ईंटें ले सकती हैं। वर्तमान वस्तुओं की कीमत-संरचना के अनुसार मेहराब-निर्माण की राजगीरी की लागत प्रबलित सीमेंट निर्माण की अपेक्षा अधिक नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में यह स्मरणीय बात है कि लगभग 6 टन कच्चा माल एक टन इस्पात के उत्पादन में खर्च कर दिया जाता है जबकि लगभग 11,000 ईंटों का निर्माण करने के लिए केवल दो टन स्लैक कोयला खर्च किया जाता है। इसके अलावा उच्च जटिल प्रौद्योगिकी और पर्याप्त ऊर्जा संसाधन इस्पात के उत्पादन में लगाए जाते हैं जबकि ईंटों के निर्माण की प्रक्रिया सरल है।

यह बात भी व्यापक रूप से स्थापित की गई है कि पारंपरिक निर्माण के तरीकों से स्थल पर ही लगभग 35 प्रतिशत से अधिक रोजगार उपलब्ध हो जाएंगे। इसके अलावा सारे देश में अतिरिक्त रोजगार के लाभों का प्रसार होगा और यह लाभ किन्हीं विशेष जेबों तक सीमित नहीं रह जाएंगे। बढ़ती बेरोजगारी के इस समय में यह लाभ ही विशेष महत्व का होगा।

इसके अलावा पारंपरिक निर्माण-तकनीकों से सीमेंट के स्थान पर चूने का व्यापक प्रयोग होता है। आजकल चूने और सीमेंट दोनों का ही अभाव है लेकिन चूने के उत्पादन के लिए आवश्यक प्रौद्योगिकी बहुत ही सरल है जबकि सीमेंट के निर्माण में निहित प्रौद्योगिकी सरल नहीं है और इसलिए चूने के

उत्पादन के लिए पूंजी-निवेश तथा ऊर्जा की आवश्यकताएं बहुत ही कम होती हैं और चूना उत्पादन करने की अवधि भी अपेक्षाकृत कम होती है। इसलिए सीमेंट की अपेक्षा चूने की आपूर्ति में वृद्धि करना अधिक सरल होगा।

फिर भी यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि निर्माण के क्षेत्र में पारंपरिक प्रौद्योगिकी को अपनाने में कुशल श्रमिकों और निरीक्षण करने वाले कर्मचारियों का अभाव प्रारंभ में बहुत ही गंभीर हो सकता है। वस्तुत: यह दु:खान्त स्थिति है कि हमारा देश जो केवल चार दशक पूर्व इस्पात के बहुत कम प्रयोग के साथ राजगीरी संरचनाओं के निर्माण में अनेकों कुशल कारीगरों से भरपूर था, आज वहां इन कारीगरों का अभाव है। इसलिए यह आवश्यक होगा कि ऐसे अनेक कामगारों और निरीक्षकों को प्रशिक्षित किया जाए जो इस क्षेत्र में विश्वास और क्षमता के साथ कार्य करें। औद्योगिक प्रशिक्षण संस्थाएं देशभर में फैली हुई हैं और उनका उपयोग उपयुक्त प्रशिक्षित कर्मचारियों को तैयार करने में किया जा सकता है।

इन प्रस्तावों से शायद ऐसा समझा जा सकता है कि समय की गति को पीछे किया जा रहा है लेकिन यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आधुनिक प्रौद्योगिकी से शहरों, प्रौद्योगिक संरचनाओं, नौसैनिक निर्माण-कार्यों, रक्षा स्थापनाओं आदि में विशाल भवनों के निर्माण में सहायता ली जाएगी।

इस बात की भी स्पष्ट आवश्यकता है कि उपयुक्त वास्तुकला का विकास किया जाए जो पारंपरिक और आधुनिक का सम्मिश्रण कर सके।

27 अगस्त, 1980 को 'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली में एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसके अध्ययन के लिए पाठक के मन में उत्कंठा होगी।

सीमेंट के स्थान पर चूने का मिश्रण

नई दिल्ली 26 अगस्त : सुल्तानपुर के समीप राष्ट्रीय भवन-निर्माण संगठन के 22 लाख रुपए का प्रदर्शन संयंत्र निर्माण के लिए सीमेंट के स्थान पर हाइड्रेटेड चूना और मिट्टी-पुज़ोलाना के निर्माण के लिए लगाया गया है और इसका उत्पादन निकट भविष्य में बिक्री के लिए उपलब्ध हो जाएगा।

1976 से राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन यह महसूस करता रहा और उसके बाद यह संयंत्र अपने यंत्रीकृत ईंट निर्माण के संयंत्र के समीप स्थापित किया गया तथा इस संयंत्र को चालू कर दिया गया। यह विचार उद्यमकर्त्ताओं को बता दिया गया कि सीमेंट के उस अभाव के प्रसंग में जो वर्षों तक बना रहेगा, बोरियों में भरे तैयार माल के रूप में चूना पुज़ोलाना (एल० पी०) मिश्रण बाजार में बिक्री के लिए उपलब्ध है और यह मिश्रण सीमेंट जैसा काम करता है।

राष्ट्रीय भवन निर्माण संगठन का यह संयंत्र प्रति दिन प्रति पारी में 20 टन हाइड्रेटेड चूना-चूर्ण के उत्पादन के लिए सक्षम है जबकि प्रति दिन तीन

पारियों में 10 टन मिट्टी-पुज़ोलाना का उत्पादन हो सकता है।

श्रीनगर विकास प्राधिकरण और मध्य प्रदेश हाउसिंग बोर्ड ने पहले ही सार्वजनिक निर्माण कार्य की परियोजनाओं को अपने हाथ में लिया है जिनमें चिनाई, गारा, मसाले की नींव में कंकरीट भरने और दीवारों की बाहरी और भीतरी सतहों पर प्लास्टर करने के लिए चूना-पुज़ोलाना मिश्रण का उपयोग किया जाएगा।

कर्नाटक, आंध्र प्रदेश और हिमाचल प्रदेश इस बात पर विचार कर रहे हैं कि सार्वजनिक भवन-निर्माण और हाउसिंग परियोजनाओं के लिए चूना-पुज़ोलाना मिश्रण का उपयोग किया जाय।

चूना अपने शुद्ध रूप में कमजोर होता है जबकि मध्य युग के पत्थर और चूने के मसाले से निर्मित किले आज भी खड़े हैं। चूने को अपेक्षाकृत अधिक शक्ति प्रदान करने के लिए सिल्का को जली हुई मिट्टी पुज़ोलाना अथवा सुर्खी के रूप में उपयोग किया जाता है।

जली हुई मिट्टी-पुज़ोलाना का विकास किया गया और इस शताब्दी के आठवें दशक की मध्यावधि में केन्द्रीय सड़क शोध संस्थान के कंक्रीट डिवीजन ने स्टैंडर्ड माल तैयार करने के लिए प्रक्रमण किया। लेकिन निजी भवन-निर्माताओं ने चूने के निर्माण को बहुत धीरे-धीरे स्वीकार किया क्योंकि वे सीमेंट के अलावा किसी अन्य वस्तु में कोई विश्वास नहीं रखते थे।

अभी भी राजस्थान और मध्य प्रदेश में फर्श के लिए सीमेंट का उपयोग किया जाता है : छतों का निर्माण शहतीरों पर पत्थर के स्लेब डालकर किया जाता है।

कुछ लोग अपने गृह-निर्माण में सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से सीमेंट का उपयोग करने में अति संवेदनशील होते हैं अतः राष्ट्रीय भवन-निर्माण संगठन के विशेषज्ञ यह परामर्श देते हैं कि 'मिला हुआ गारा' उपयोग करने से 50 प्रतिशत सीमेंट की बचत हो सकती है। इस मिश्रण में एक भाग सीमेंट, दो भाग हाइड्रेटेड (स्लेक्ड) चूना और नौ भाग बालू मिलाई जा सकती है।

बोरियों में पैक की गई तैयार मात्रा के रूप में हाइड्रेटेड चूना उपयोग के लिए बाजार में बिकने लगा है। यदि ये संयंत्र चूने की खदानों के पास स्थित हों तो इस प्रकार के मिश्रण तैयार करने वाले संयंत्र कम खर्चीले होते हैं। पुज़ोलाना के विनिर्माण में अभी गति आनी है क्योंकि लोग काले बाजार की दरों पर सामग्री खरीदते हैं, बजाय इसके कि वे नवीन शोध किए गए उत्पाद पर अधिक विश्वास करें।

भारत के भाग्य-विधाता इस बारे में शायद दुबारा विचार करना चाहेंगे और सीमेंट तथा लोहे के लिए जो सनक है, उसे छोड़ देंगे ताकि लोगों का हित साधन हो सके और वे चूना तथा ईंटों से निर्माण-कार्य प्रारंभ कर सकें।

सेवा क्षेत्रक

सेवा क्षेत्रक ही ऐसा है जहां उन्नत देशों में लोगों का सबसे अधिक प्रतिशत काम पर लगाया जाता है। भारत में भी इनकी संख्या दूसरे स्थान पर है और यह स्थिति केवल उन लोगों के संबंध में है जो कृषि कार्यों में लगे हैं। यह क्षेत्रक भी लगभग पूर्णतया यंत्रीकृत नहीं है। इसलिए आज तकनीकों के बीच प्राथमिकता का प्रश्न नहीं उठता। इस तथ्य की दृष्टि से कि साधारणतया सेवाएं यंत्रीकरण निर्यातों की वृद्धि अथवा आयातों की कमी में बहुत कम या नगण्य योगदान करती हैं और सरल ढंग से श्रम के उन रूपों की मांग को कम करती हैं जो देश में पहले ही से अधिक हैं, उनका भी भविष्य में प्रश्न नहीं उठता। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारी सरकारों ने 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त करने के समय से मशीनरी के प्रति विशेष रुझान दिखाया है और जीवन के उन सभी पक्षों के लिए मशीनों का आयात किया है तथा उन पक्षों में मशीनों का उपयोग प्रारंभ किया गया है-चाहे—वे पक्ष सामाजिक कीमत के ही क्यों न हों और चाहे इनसे बेरोजगारी बढ़े अथवा इसके कारण आय की असमानताओं में वृद्धि होती रहे।

10 जून, 1976 को दिल्ली परिवहन निगम के अध्यक्ष ने संवाददाताओं को बताया :

> "हमारा अंतिम उद्देश्य यह है कि कण्डक्टरों की संख्या को कम किया जाए (राजधानी की सार्वजनिक पद्धति के अन्तर्गत 5,000 कंडक्टर काम कर रहे हैं)। श्री श्रीवास्तव से यह पूछा गया कि कंडक्टरों का क्या होगा, तो उन्होंने इसके उत्तर में कहा कि इनमें से कुछ कंडक्टर दिल्ली परिवहन निगम के अन्तर्गत ही उस समय खपा लिए जाएंगे जब निगम का विस्तार होगा।"

क्या हमारे गरीब और बेरोजगार लोगों के प्रति दुष्टता और निर्दयता बढ़ती रहेगी ?

उत्तर प्रदेश सरकार ने यह निर्णय किया है कि वर्ष 1973-74 में सभी बड़ी विकास परियोजनाओं के लिए कम्प्यूटर की स्थापना की जाए। योजना मंत्री ने कहा, "कम्प्यूटर से सही आंकड़े इकट्ठे करने और उनके रख-रखाव में काफी समय और शक्ति लगेगी। भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री एन० डी० तिवारी ने प्रथम दौर के अन्तर्गत लखनऊ में कम्प्यूटर केन्द्र का शिलान्यास करते हुए कहा कि यह कम्प्यूटरों का युग है और इस बात की आवश्यकता है कि कम्पयूटरों के व्यापक प्रयोग से आंकड़े एकत्र किए जाएं ताकि उपयुक्त और तीव्र गति का आयोजन किया जा सके और विकास परि-योजनाओं का कार्यान्वयन और मूल्यांकन हो सके। उन्होंने कम्प्यूटर पद्धति के विरो-धियों की आशंकाओं को शांत करने का प्रयास किया और यह घोषणा की कि इससे कर्मचारियों की संख्या में कटौती नहीं की जाएगी। यह हो सकता है कि ऐसे उपस्कर से गुणवत्ता बढ़े और सेवा में गति भी आए लेकिन इसके फलस्वरूप कामगार बेकार

हो जाएंगे और वे नए रोजगार प्राप्त करने में बहुत कठिनाई महसूस करेंगे। विदेशी उपस्कर की खरीद में उपलब्ध कम विदेशी मुद्रा का प्रयोग निहित है। इस विदेशी मुद्रा को पूंजी-वस्तुओं के आयात पर व्यय किया जा सकता है जो पूरक होती हैं और जो श्रम का स्थान नहीं लेतीं।

निष्कर्ष

जब तक यह देश आर्थिक विकास के वर्तमान पैटर्न के लिए प्रतिबद्ध है जिसमें आर्थिक विकास के प्रारूप में भारी लागत पर पूंजी प्रधान आधुनिक उद्योगों की स्थापना की गई है, उससे केवल शहरी प्रबुद्ध लोगों की आवश्यकताओं की ही पूर्ति होती है अथवा उनके उत्पादन कम कीमतों पर निर्यात कर दिए जाते हैं। इससे न केवल बेरोजगारी बढ़ती जाएगी अपितु पूंजी का संकेन्द्रण भी कुछ लोगों के हाथों में होगा। लेकिन इसमें एक जोखिम यह भी है कि समृद्ध राष्ट्रों की दासता गहरी होती जाएगी। इस प्रकार की दासता को बचाने का या अन्य शब्दों में वित्तीय और प्रौद्योगिकीय आत्मनिर्भरता को बढ़ाने का एकमात्र सही रास्ता यही है कि वर्तमान औद्योगिकीकरण के प्रारूप को तोड़ा जाए तथा महात्मा गांधी के बताए गए मार्ग का अनुसरण किया जाए, जो आज की बदलती हुई परिस्थितियों या बदली परिस्थितियों के अनुकूल है। इस मार्ग के अनुसार मशीनों से उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन रोक दिया जाएगा और इसके स्थान पर वस्तुतः कुटीर उद्योग काम करने लगेंगे; यथा संभव शीघ्रता के साथ रासायनिक उर्वरकों का स्थान जैविक खाद ले लेगी; नगरीय योजना को हाथ में ले लिया जाएगा ताकि शक्ति-चालित परिवहन की आवश्यकता को कम से कम किया जाए; और इस प्रकार के भवन-निर्माण संबंधी ऐसे कानून बना दिए जाएंगे, जो धनी और गरीब लोगों को इस बात पर बाध्य करेंगे कि वे कम ऊंचे, अधिक व्यक्तियों के आवास के लिए सस्ते और स्थानीय रूप से उपलब्ध भवन-निर्माण की सामग्री, यथा—बांस, मिट्टी, ईंटें और खपरैल आदि का प्रयोग करें।

वास्तव में जब तक पूरा रोजगार उपलब्ध नहीं हो जाता, यंत्रीकरण को निष्ठापूर्वक दूर किया जाता है। इस यंत्रीकरण को केवल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में ही दूर नहीं करना है बल्लि कार्यालय या आवासीय भवनों, सड़कों, पुलों, रेलपटरियों अथवा सिंचाई-बांधों व जलाशयों के निर्माण में भी इसे रोका जाना है। इसलिए प्री-फेब्रिकेटेड गृह-निर्माण कारखानों, मिट्टी हटाने वाले संयंत्रों और मिट्टी खोदने वाले संयंत्रों को भी समाप्त करना होगा। इलेक्ट्रो कम्प्यूटर स्वचालित धुलाईघर अथवा स्वचालित टेलीफोन और यंत्रीकृत बेकरियों को भी कार्य करने की अनुमति नहीं दी जाएगी जिन्हें कांग्रेस सरकार ने देश भर में स्थापित कर लिया है। इनके स्थान पर वह पुरानी प्रणाली काम में लाई जाएगी जिससे अपेक्षाकृत अधिक रोजगार उपलब्ध होता है। (जहां तक कृषि का संबंध है, केवल छोटी मशीनों का ही उपयोग किया जा सकता है जैसा कि जापान में किया जा रहा है। ये छोटी मशीनें पूरक का काम करेंगी न कि मानवीय श्रम को निकालने का।)

भारत जैसे देश में, जहां बेरोजगारी व्यापक है, आर्थिक रूप से यह अधिक क्षमता वाली स्थिति है कि उत्पादकता (अर्थात् प्रति कामगार उत्पादन) के साथ रोजगार की वृद्धि से उत्पादन बढ़ाया जाए और इस उत्पादन को बराबर बनाए रखना चाहिए जबकि बराबर रोजगार बनाए रखने के साथ उत्पादकता में वृद्धि की जाती रहे। इसलिए अर्थव्यवस्था में यंत्रीकरण अथवा अधिक यंत्रीकरण को हतोत्साहित करना चाहिए जब तक कि सभी बेरोजगार व्यक्तियों को पूर्णतया काम पर न लगा लिया जाए। इसी बीच यदि हमें उन दो तकनीकों के मध्य चयन करना है जिनमें से एक तकनीक के अन्तर्गत अपेक्षाकृत कम कामगार काम पर लागाए जाएंगे और दूसरी तकनीक के अंतर्गत अपेक्षाकृत कम कामगार काम पर लगाए जाएंगे ताकि समान परिणाम अथवा सकल राष्ट्रीय उत्पाद की उतनी ही मात्रा पैदा की जा सकें, जिसमें कि कुछ अपवाद भी हो सकते हैं (जिनकी तात्कालिक राष्ट्रीय हित-मांग कर सकेंगे), तो पहली ही पद्धति ऐसी है जिसका चयन किया जाएगा। निष्कर्ष के रूप में : नेहरू ने 1942 में नाइम वेल्स द्वारा लिखित 'चाइना बिल्ड्स फॉर डेमोक्रेसी' नामक पुस्तक की भूमिका में औद्योगिकीकरण के विषय पर लिखा था :

> "मेरा विचार है कि गांधी जी ने ग्रामीण उद्योग पर विशेष बल देकर भारत की महान सेवा की है। उन्होंने यह सब कुछ किया लेकिन इससे पूर्व हम सभी अथवा लगभग हम सभी एकतरफा विचार कर रहे थे और न केवल मानवीय पक्ष की अवहेलना कर रहे थे बल्कि भारत में विद्यमान विशिष्ट दशाओं की भी अवहेलना कर रहे थे। चीन के समान भारत में भी पर्याप्त मानवशक्ति, विशाल संख्या में बेरोजगार और अर्धरोजगार में लगे व्यक्ति हैं। यूरोप के ऐसे छोटे देशों से इसकी तुलना करने का कोई लाभ नहीं है जो कम और बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ ही धीरे-धीरे औद्योगिकीकृत हो गए। कोई भी ऐसी योजना जो हमारे श्रम को बर्बाद करती है अथवा हमारे देश के लोगों को रोजगार से हटाती है—एक खराब योजना है। विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से यहां तक कि मानवीय पक्ष के रूप में अपेक्षाकृत यह अधिक लाभदायक होगा कि अधिक श्रम शक्ति का उपयोग किया जाए और जटिल मशीनों का कम उपयोग किया जाए। यह कहीं अच्छा है कि कम आय-स्तर पर अनेकों लोगों के लिए रोजगार उपलब्ध कराया जाए बजाय इसके कि उनमें से अधिकांश को बेरोजगार रखा जाए। यह संभव भी है कि कई कुटीर उद्योगों द्वारा पैदा की गई कुल सम्पत्ति उसी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन करने वाले कुछ कारखानों द्वारा पैदा की गई सम्पत्ति से अपेक्षाकृत अधिक हो सकती है।"

लेकिन बाद में नेहरू जी ने जो कुछ इस संबंध में किया, वह इससे सर्वथा भिन्न था।

हमारे राजनीतिज्ञों के लिए हाथ से किया जाने वाला श्रम यदि सीधा ही शोषण नहीं है तो कम से कम पिछड़ेपन की निशानी तो है ही। दूसरी ओर मशीन का उपयोग

प्रगति की निशानी है जिसे समाजवादी परिवर्तन कह सकते हैं—चाहे कामगार रोटी के अभाव में भूखा ही क्यों न मरे क्योंकि उसके लिए काम का अभाव रहता है।

यह बात बराबर भुला दी जाती है अथवा इस बात की अवहेलना की जाती है कि सभी क्षेत्रों में जहां कोई भी काम हाथों से किया जा सकता है अथवा वास्तव में किया जाता है तो ऐसे क्षेत्रों में आधुनिक मशीन उत्पादन नहीं बढ़ाती है बल्कि श्रम की बचत करती है और इस प्रकार बेरोजगारी पैदा हो जाती है। मशीन का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब किसी कार्य के लिए आवश्यक हाथों की कमी हो अथवा वह कार्य हाथों से बिल्कुल न किया जा सके।

यदि भारत को जीवित रखना है और उसे अपना स्थान प्राप्त करना है तो उस विशाल बेरोजगारी और अल्प रोजगारी को शीघ्रातिशीघ्र मिटा देना होगा जिससे कि हमारी अर्थव्यवस्था पीड़ित है। इसलिए यह स्पष्ट रूप से मानना चाहिए कि हमारी आर्थिक नीति का उद्देश्य कुल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि से बदलकर उत्पादक रोजगार की वृद्धि की ओर हो गया है। वास्तव में अधिकाधिक काम-धन्धों के सृजन से सकल राष्ट्रीय उत्पाद में अवश्य ही वृद्धि होगी लेकिन यदि एक ओर कुछ ही काम धन्धों के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पाद की संवृद्धि और दूसरी ओर अपेक्षाकृत अधिक काम-धन्धों के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पादन में कम संवृद्धि—इन दोनों में से किसी एक को चुनना हो, तो हम दूसरे मार्ग को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेंगे।

भारत जैसे देश में, जहां बेरोजगारी व्यापक है, आर्थिक रूप से यह अधिक क्षमता वाली स्थिति है कि उत्पादकता (अर्थात् प्रति कामगार उत्पादन) के साथ रोजगार की वृद्धि से उत्पादन बढ़ाया जाए और इस उत्पादन को बराबर बनाए रखना चाहिए जबकि बराबर रोजगार बनाए रखने के साथ उत्पादकता में वृद्धि की जाती रहे। इसलिए अर्थव्यवस्था में यंत्रीकरण अथवा अधिक यंत्रीकरण को हतोत्साहित करना चाहिए जब तक कि सभी बेरोजगार व्यक्तियों को पूर्णतया काम पर न लगा लिया जाए। इसी बीच यदि हमें उन दो तकनीकों के मध्य चयन करना है जिनमें से एक तकनीक के अन्तर्गत अपेक्षाकृत कम कामगार काम पर लगाए जाएंगे और दूसरी तकनीक के अंतर्गत अपेक्षाकृत कम कामगार काम पर लगाए जाएंगे ताकि समान परिणाम अथवा सकल राष्ट्रीय उत्पाद की उतनी ही मात्रा पैदा की जा सकें, जिसमें कि कुछ अपवाद भी हो सकते हैं (जिनकी तात्कालिक राष्ट्रीय हित-मांग कर सकेंगे), तो पहली ही पद्धति ऐसी है जिसका चयन किया जाएगा। निष्कर्ष के रूप में : नेहरू ने 1942 में नाइम वेल्स द्वारा लिखित 'चाइना बिल्ड्स फॉर डेमोक्रेसी' नामक पुस्तक की भूमिका में औद्योगिकीकरण के विषय पर लिखा था :

> "मेरा विचार है कि गांधी जी ने ग्रामीण उद्योग पर विशेष बल देकर भारत की महान सेवा की है। उन्होंने यह सब कुछ किया लेकिन इससे पूर्व हम सभी अथवा लगभग हम सभी एकतरफा विचार कर रहे थे और न केवल मानवीय पक्ष की अवहेलना कर रहे थे बल्कि भारत में विद्यमान विशिष्ट दशाओं की भी अवहेलना कर रहे थे। चीन के समान भारत में भी पर्याप्त मानवशक्ति, विशाल संख्या में बेरोजगार और अर्धरोजगार में लगे व्यक्ति हैं। यूरोप के ऐसे छोटे देशों से इसकी तुलना करने का कोई लाभ नहीं है जो कम और बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ ही धीरे-धीरे औद्योगिकीकृत हो गए। कोई भी ऐसी योजना जो हमारे श्रम को बर्बाद करती है अथवा हमारे देश के लोगों को रोजगार से हटाती है—एक खराब योजना है। विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से यहां तक कि मानवीय पक्ष के रूप में अपेक्षाकृत यह अधिक लाभदायक होगा कि अधिक श्रम शक्ति का उपयोग किया जाए और जटिल मशीनों का कम उपयोग किया जाए। यह कहीं अच्छा है कि कम आय-स्तर पर अनेकों लोगों के लिए रोजगार उपलब्ध कराया जाए बजाय इसके कि उनमें से अधिकांश को बेरोजगार रखा जाए। यह संभव भी है कि कई कुटीर उद्योगों द्वारा पैदा की गई कुल सम्पत्ति उसी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन करने वाले कुछ कारखानों द्वारा पैदा की गई सम्पत्ति से अपेक्षाकृत अधिक हो सकती है।"

लेकिन बाद में नेहरू जी ने जो कुछ इस संबंध में किया, वह इससे सर्वथा भिन्न था।

हमारे राजनीतिज्ञों के लिए हाथ से किया जाने वाला श्रम यदि सीधा ही शोषण नहीं है तो कम से कम पिछड़ेपन की निशानी तो है ही। दूसरी ओर मशीन का उपयोग

प्रगति की निशानी है जिसे समाजवादी परिवर्तन कह सकते हैं—चाहे कामगार रोटी के अभाव में भूखा ही क्यों न मरे क्योंकि उसके लिए काम का अभाव रहता है।

यह बात बराबर भुला दी जाती है अथवा इस बात की अवहेलना की जाती है कि सभी क्षेत्रों में जहां कोई भी काम हाथों से किया जा सकता है अथवा वास्तव में किया जाता है तो ऐसे क्षेत्रों में आधुनिक मशीन उत्पादन नहीं बढ़ाती है बल्कि श्रम की बचत करती है और इस प्रकार बेरोजगारी पैदा हो जाती है। मशीन का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब किसी कार्य के लिए आवश्यक हाथों की कमी हो अथवा वह कार्य हाथों से बिल्कुल न किया जा सके।

यदि भारत को जीवित रखना है और उसे अपना स्थान प्राप्त करना है तो उस विशाल बेरोजगारी और अल्प रोजगारी को शीघ्रातिशीघ्र मिटा देना होगा जिससे कि हमारी अर्थव्यवस्था पीड़ित है। इसलिए यह स्पष्ट रूप से मानना चाहिए कि हमारी आर्थिक नीति का उद्देश्य कुल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि से बदलकर उत्पादक रोजगार की वृद्धि की ओर हो गया है। वास्तव में अधिकाधिक काम-धन्धों के सृजन से सकल राष्ट्रीय उत्पाद में अवश्य ही वृद्धि होगी लेकिन यदि एक ओर कुछ ही काम धन्धों के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पाद की संवृद्धि और दूसरी ओर अपेक्षाकृत अधिक काम-धन्धों के साथ सकल राष्ट्रीय उत्पादन में कम संवृद्धि—इन दोनों में से किसी एक को चुनना हो, तो हम दूसरे मार्ग को बिना किसी हिचकिचाहट के स्वीकार कर लेंगे।

26

शक्ति-संरचना में आमूल परिवर्तन

विचारधारा के साथ-साथ कृषि की अवहेलना (और इसीलिए गांवों की अवहेलना) और हमारी अर्थव्यवस्था व प्रशासन की बहुत-सी अन्य बुराइयों का कारण अधिकांशतया हमारे सत्तारूढ़ दल की शहरी विचारधारा में निहित है। वास्तव में, किसी भी व्यक्ति की विचारधारा उसके सामाजिक मूल से यथा—उसका अपना घर और वातावरण जिसमें उसने जन्म लिया है और जहां उसका लालन-पालन हुआ है, विशेषतया नियंत्रित होती है।

चूंकि हमारे देश के राजनीतिक नेता गांव की प्रकृति और उसकी आवश्यकताओं से बहुत दूर रहते हैं अतः जो आर्थिक नीति अपनाई जाती है—चेतन या अचेतन रूप से—वह अधिकांशतया नगरों के लिए ही उपयुक्त होती है। श्री सतीश के० अरोड़ा के अनुसार, "1962-72 की दशाब्दी में भारत का 20 प्रतिशत भाग शहरी था। केंद्र में कैबिनेट स्तर के आधे से अधिक मंत्री इसी क्षेत्र के थे; और इनमें से भी दो-तिहाई मंत्री उन शहरों से थे जिनकी जनसंख्या 10 लाख से अधिक थी। मंत्रिमंडल में किसानों का अनुपात लगभग 17 प्रतिशत पर स्थिर रहा है।"[1]

नगरों से आने वाले मंत्री दिल्ली में आकर रहने लगते हैं और वे शायद यह नहीं जान पाते कि गांव का आदमी किस प्रकार से सोचता है। वे यह भी नहीं जानते कि ग्रामीण समाज किस प्रकार कार्य करता है। इसलिए हालांकि वे देहाती लोगों के लिए बौद्धिक स्तर पर सद्भावना रखते हैं फिर भी उन्हें किसानों की आवश्यकताओं, समस्याओं व बाधाओं का न तो कोई व्यक्तिगत ज्ञान होता है और न इनकी समझ ही होती है। गांव में भूमि की क्या समस्या है, इस बात को तो वे बिल्कुल नहीं जानते। इस संबंध में एक-दो उदाहरण इस प्रकार हैं:

1. "सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ द इंडियन कैबिनेट" नामक लेख, 'इकनॉमिक एंड पॉलीटिकल वीकली', विशेषांक, अगस्त, 1972 में प्रकाशित।

जनवरी, 1959 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में आयोजित किया गया। इस अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने यह स्वीकार किया कि उन्हें भूमि और उसकी समस्याओं के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। फिर भी (खाद्यान्न में राज्य-व्यापार के साथ-साथ) उन्होंने प्रतिनिधियों के समक्ष एक प्रस्ताव रखा जिसमें यह सुझाव दिया गया था कि गांव के सभी स्थायी निवासियों को मिलाकर, चाहे वे भूमि के मालिक हों या न हों, संयुक्त फार्म प्रत्येक गांव में स्थापित कर दिए जाएं जिसका मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना है। इससे अधिक और क्या अव्यावहारिक या वास्तव में बेहूदा बात हो सकती है। फिर भी सिफारिश की गई और उसे स्वीकार भी किया गया।

एक छोटी बात का संदर्भ देना उपयुक्त है: जवाहरलाल नेहरू ने हमारे भार और मापतोल की पुरानी पद्धतियों को विदेशी पद्धतियों में बदल डाला जबकि हमारे देश के लोग गत शताब्दियों से माप-तोल की पुरानी पद्धतियों से भली भांति परिचित थे। परन्तु इस परिवर्तन से कोई भी लाभ नजर नहीं आता। इसके विपरीत पुराने गज और मील के स्थान पर मीटर और किलोमीटर; तोला, छंटाक, सेर और मन के स्थान पर ग्राम, किलोग्राम, क्विंटल और टन की नई पद्धतियां अपना ली गईं। एक आर बराबर 100 वर्गमीटर, एक डेकेयर बराबर 10 आर, एक हेक्टेयर बराबर 100 आर के हैं जबकि इनके स्थान पर पहले बिसवा, बीघा और एकड़ का प्रयोग किया जाता था। इस परिवर्तन ने लोगों के मस्तिष्क में और अभिलेखों के रख-रखाव में उलझन पैदा कर दी है। उदाहरणार्थ क्षेत्रफल या सतह के नए माप के साधन अर्थात् आर, डेकेयर और हेक्टेयर—ये नए माप-तोल के साधन ग्रामीण जनता के लिए स्पष्ट नहीं हैं और भारत में इनका कोई स्थान भी नहीं है क्योंकि यहां भूमि का जनसंख्या से अनुपात कतिपय यूरोप और अमरीका के देशों की तुलना में बहुत ही कम है। ये नए माप-तोल के साधन हमारी भाषा और व्यवहार से अपरिचित हैं और निकट भविष्य में भी इनके हमारी भाषा और व्यवहार के अंश बन जाने की कोई संभावना नहीं है। यही बात भार तोलने के बारे में सही है अर्थात् हमारे देश भर में हमारी भाषा में 'ग्राम' को 'गांव' का अर्थ दिया जाता है। केवल वही नेता, जो आर्थिक जीवन की वास्तविकताओं से ताल-मेल नहीं रखता था और उनके बारे में नहीं जानता था, तथा विशेष रूप से हमारे लोगों के ग्रामीण जीवन से अपरिचित था, इस प्रकार के परिवर्तन के आदेश दे सकता था।

राष्ट्र की बागडोर ऐसे नेताओं के हाथ में होने के फलस्वरूप योजना लाजिमी रूप से अवास्तविक होनी थी। क्योंकि योजना बनाने के लिए देश की स्थिति का आंतरिक ज्ञान और अनुभव आवश्यक है।

यद्यपि सिद्धांततः यह आवश्यक नहीं है कि गरीब घर में जन्म लेकर ही गरीबी को समझा जा सकता है अथवा किसान के घर में जन्म लेकर ही यह समझा जा सकता है कि कृषि-उत्पादन में किस प्रकार वृद्धि की जा सकती है। फिर भी, यह आशा करना व्यर्थ था कि ग्रामीण विकास, गरीबी-उन्मूलन अथवा खाद्यान्न-उत्पादन में वृद्धि

से संबंधित वास्तविक रीतियां उन लोगों द्वारा तैयार और कार्यान्वित की जा सकती हैं जिन्होंने न कभी गांव देखा हो, न गरीबी देखी हो और न जिन्हें भूख का अनुभव ही हो।

15 मार्च, 1973 को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में 'भूख पर विजय' विषय पर भाषण देते हुए नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ० नॉर्मन एफ० बोरलौग ने अन्य बातों के साथ-साथ यह सुझाव दिया कि खाद्यान्न के 'जैविक मूल्य' को समझने के लिए भारत में नीति-निर्माताओं, यथा—राजनीतिक नेता, वैज्ञानिक, अधिकारी-वर्ग और शिक्षक को दो सप्ताह भर भूखा रहना चाहिए।

यदि वे अंतिम दो दिनों में जल भी न ग्रहण करें तो उनका यह अभ्यास उनको साथ ही ऐसी मूल्यवान दृष्टि उपलब्ध करा सकता है जिससे वे जल के 'मनोवैज्ञानिक मूल्य' को भली भांति समझ सकेंगे।

उन्होंने ताना मारते हुए कहा, "खाद्यान्न का आर्थिक मूल्य इस पर निर्भर करता है कि आप कितने भूखे हैं। आपने इससे पूर्व कब भोजन किया था और भविष्य में भोजन मिलने की क्या संभावनाएं हैं।"

साओ पोलो के अति समृद्ध शहर में एक गंदी बस्ती में रहने वाली कैरोलीना मेरिया दे जीसिस ने अपनी पुस्तक 'चाइल्ड आफ़ द डार्क' में घोर निराशा में यह कहा है :

> "ब्राजील का नेतृत्व करने के लिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जिसका भूख से पाला पड़ा हो। भूख भी शिक्षक होती है…हमारे देश पर जो शासन करते हैं उनके पास धन है, वे यह नहीं जानते कि भूख अथवा गरीबी क्या है।"

हमारे पाठकों को अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि भारत प्रकृति से अपने संसाधनों में कितना अधिक धनी है जो खाद्यान्न-उत्पादन के लिए आवश्यक होते हैं फिर भी भारत राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के समय से तीन दशाब्दियों के बीत जाने पर भी समस्त विश्व के सामने खाद्यान्न के लिए हाथ पसारता रहा है। न तो वे लोग जिनके हाथों में राजनीतिक सत्ता है और न ही वे लोग जो इन राजनेताओं के समीप और प्रिय रहे हैं, उन्होंने न खाद्यान्न का अभाव देखा है और न ही उन्हें भूख की पीड़ा का अनुभव है।

नगरों में, ग्रामीण उपस्थिति नहीं झलकती, जहां राजनीतिक और आर्थिक निर्णय लिए जाते हैं। विशेषतया, छोटे किसानों का राज्य की राजधानियों में कोई व्यावहारिक रूप से सीधा प्रभाव नहीं होता और गांवों से स्थायी रूप से इन्हीं नगरों में जाने वाले लोग शहरी संपन्न लोगों के साथ घुल-मिल जाते हैं। इस प्रकार हमारे देश के राजनीतिक नेता और आर्थिक योजनाकार आधुनिक शहरी राजनीति, श्रमिक संघ-वाद, उद्योग, विश्वविद्यालय और प्रशासन में लगे हमारी जनता के छोटे भाग के साथ उन्हीं की विचारधारा के प्रभाव में बह जाते हैं। वे किसानों के कल्याण के लिए गहरी

और विश्वसनीय चिंता प्रकट तो करते हैं लेकिन यह चिंता और सद्भावना ग्रामीणों के साथ प्रत्यक्ष संपर्क और उनकी समस्याओं के आंतरिक ज्ञान की पूर्ति नहीं कर पाती। फिर भी वे कितने ही निष्ठावान क्यों न हों, उन पर कुल मिलाकर शहर का दबाव रहता है जो अंततोगत्वा उन्हें चेतन अथवा अचेतन रूप से जकड़ लेता है।

जबकि गांधी जी का सबसे बड़ा योगदान सामाजिक मुक्ति आंदोलन को व्यापक रूप देना था, फिर भी उससे एक निश्चित परिणाम प्राप्त हुआ और शायद नेहरू का कोई इरादा नहीं था फिर नेहरू की आर्थिक और सामाजिक नीतियों ने अधिकांशतया शासक वर्ग के आधार को छोटा कर दिया है। चुनाव जनता को मुक्त नहीं कर पाते। जैसे ही एक बार चुनाव समाप्त होते हैं संपर्क करने वाले व्यक्ति और शहरी लॉबियां नियंत्रण कर लेती हैं। प्रेस, नौकरशाही, व्यापार, व्यवसायी लॉबियां और कमीशन एजेंट शक्ति के केंद्रों पर नियंत्रण करते हैं। सरकार का स्वरूप कैसा ही क्यों न हो—अर्थात् कांग्रेस, साम्यवादी, जनता या कोई अन्य क्यों न हो—यही वर्ग शासन करता है। शायद इसी स्थिति को 'शासक वर्ग' का मार्क्सवादी सिद्धांत कहना उपयुक्त है।

इस शताब्दी के छठे दशक के मध्य में एक वृद्ध शिक्षित स्वामी ने अमरीकी अर्थशास्त्री डब्ल्यू० एस० वार्यटिस्की से बातचीत के दौरान कहा : "कष्ट यह है कि हमारा देश छोटे किसानों का देश है। हमारा देश देहाती देश है लेकिन हमारे राजनीतिज्ञ सभी बुद्धिजीवियों के समान शहर के लोग हैं। उनमें से अधिकांश भले और ईमानदार लोग हैं लेकिन इन बड़े शहरों की आवश्यकताएं सदैव ही उनके मस्तिष्क में सर्वप्रथम आती हैं।"[2]

माइकेल लिपटन ने अपनी पुस्तक 'ह्वाई पूअर पीपल स्टे पूअर' (हेरीटेज पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1980) में कहा है :

> "गरीबी अधिकांशतया विकास के साथ-साथ बनी रहती है क्योंकि गरीब देशों का विकास शहर में रहने वाले लोगों से उनके द्वारा और उनके लिए किया जाता है। ये वे लोग हैं जो सामान्य मानवीय दबावों के अंतर्गत काम करते हुए शक्तिहीन ग्रामीण गरीब को विकास के लाभों से वंचित करते हैं। इनमें से कुछ शहरी शोषक विशिष्ट वर्ग में सम्मिलित होकर इस दुष्चक्र से बचने में सफल हो जाते हैं क्योंकि उच्च शहरी मजदूरियां (और राज-सहायता प्राप्त पूंजीगत आयात) नियोक्ताओं को अतिरिक्त श्रम के उपयोग से रोकती हैं। कई ग्रामीण जो शहरों में एक बार आ जाते हैं परन्तु शहरी श्रमिकों की शानदार स्थिति को प्राप्त करने में असफल रह जाते हैं, वे फिर बढ़ते हुए भूमि-अभाव वाले गांव को पुनः लौट जाते हैं : यह ऐसा गांव होता है जो नीति द्वारा ऐसी उच्च खाद्यान्न की कीमतों से वंचित कर दिया जाता है जो साधारणतया भूमि-अभाव से सम्बद्ध होती हैं और जिनमें नीतिवश सार्वजनिक निवेश-आवंटन नहीं किया जाता और इसलिए वह नीति द्वारा विकास में

2. 'इंडिया—द अवेकनिंग जाइंट', हारपर एंड ब्रदर्स, न्यूयार्क, 1957.

भागीदार होने से वंचित हो जाता है और इस प्रकार अपनी ही गरीबी का निदान नहीं कर पाता।" (पृष्ठ 68-69)

परन्तु यह न तो कोई दुष्टता है और न कोई दुरभिसंधि; यह स्वार्थ और शक्ति का स्वाभाविक खेल है : इस बात को एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण देकर इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि किसान को इस बात पर बाध्य कर दिया जाए कि वह शहरों के लिए सस्ता अन्न और कच्चे माल का उत्पादन करे तो उद्योगपति, शहरी कामगार, सरकारी कर्मचारी, बुद्धिजीवी और यहां तक कि राजनीतिक नेता आदि सभी को फायदा पहुंचता है। इसमें कोई भी साजिश नहीं करता अथवा साजिश करने की आवश्यकता नहीं है; सभी सशक्त लोग संतुष्ट हो जाते हैं। यह एक अलग बात है कि श्रम-प्रधान छोटा किसान चाहे कितना भी कार्यकुशल क्यों न हो, गरीब और शक्तिहीन रह जाता है; कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो उसकी दुर्दशा पर आंसू बहाए। भारत में कई तरीकों में से एक तरीका सस्ते अन्न का है जिससे शहर (अधिकांशतया सरकार) गांव (जहां अधिकांश लोग बसते हैं) को ऐसा कस देते हैं जैसा कि अन्य गरीब देशों में ग्रामीण जनता को सताया जाता है। करापात, निवेश-आवंटन, प्रोत्साहनों की व्यवस्था, शिक्षा और शोध में प्रायः सब कहीं ऐसी सरकार होती है जो शहर द्वारा, शहर से, शहर के लिए बनाई जाती है।

माइकेल लिपटन ने अपनी पुस्तक की भूमिका में कहा है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। उनका कथन इस प्रकार है :

"आज विश्व के गरीब देशों में सबसे महत्त्वपूर्ण वर्ग-संघर्ष श्रम और पूंजी के बीच में नहीं है। यह संघर्ष विदेशी और राष्ट्रीय हितों के बीच में भी नहीं है। यह संघर्ष ग्रामीण वर्गों और शहरी वर्गों के बीच है। ग्रामीण क्षेत्रक में अधिकांशतया गरीबी है और संभाव्य उन्नति के निम्न लागत के स्रोतों की बहुतायत है; लेकिन शहरी क्षेत्रक में अधिकांशतया प्रांजलता, संगठन और शक्ति होती है। इसलिए शहरी वर्गों ने देहात के साथ संघर्ष की अधिकांश संघर्षों में 'विजय' पाने में समर्थता प्राप्त की है; लेकिन ऐसा करने में उन्होंने अनावश्यक रूप से विकास-प्रक्रिया को धीमा और अनुचित बना दिया है। कम भूमि जिसमें भूखे ग्रामीणों के लिए ज्वार-बाजरा पैदा किया जा सकती है और सेम अंकुरित की जा सकती है। इसके बजाय कि मांस और दूध से महंगी कैलोरी उत्पन्न की जाए जो कुछेक शहरी धनी व्यक्तियों (जो किसी-न-किसी प्रकार पर्याप्त प्रोटीन पा लेते हैं) को छोड़कर औरों की पहुंच के बाहर होता है। कम निवेश को चावल उगाने के लिए जल-पंपों में खर्च करने के बजाय शहरी मोटरगाड़ियों के मार्गों पर बर्बाद कर दिया जाता है। कम मानव कौशलों को ग्रामीण कुओं को स्वच्छ करने और कृषि-विस्तार सेवाओं में इस्तेमाल करने के बजाय उन्हें बड़े-बड़े विश्व बाक्सिंग प्रतियोगिताओं के स्टेडियम का निर्माण करने में लगा दिया जाता है। शहर और गांव तथा इन दोनों के बीच में संसाधन-आवंटन में समता अथवा कार्यकुशलता की अपेक्षा, शहरी

प्राथमिकताएं परिलक्षित होती हैं। भ्रष्ट मार्गदर्शन के विचार के आगमन से हानि अधिक बढ़ गई है। इन विचारों में उदारवादी और मार्क्सवादी विचार शामिल हैं तथा नगर द्वारा ग्रामीण विशिष्ट वर्ग के लोगों को खरीदे जाने की सफलता ने इस प्रक्रिया की अधिकांश लागत को ग्रामीण गरीबों की ओर हस्तांतरित करा दिया है।"

ग्रामीण मतदाता विशाल क्षेत्रों में अपेक्षाकृत छोटे दलों में बिखरे हुए हैं जबकि शहरों पर आधारित राजनीतिज्ञ ऐसे हैं जो शासन सत्ता की बागडोर संभाले हुए हैं। ये राजनीतिज्ञ ग्रामीण समस्याओं का समाधान करने में बहुत कम योगदान कर पाते हैं। देश के विधायकों में ग्रामीणों के प्रतिनिधियों की भारी संख्या होते हुए भी शायद ही उनका संगत प्रतिभार होता हो। वे केवल अपने नेताओं का अंधाधुंध अनुसरण करते हैं। इसके अलावा राज्य विधानमंडल के सदस्य और संसद सदस्य प्रायः बड़े किसान होते हैं और उनके हित भी लगभग शहरी प्रबुद्ध वर्ग के से ही होते हैं। और उनके हित उस भाव के नहीं होते जहां से वे चुनकर आए हैं। यही कारण है कि प्रायः नगरों के उपभोक्ताओं के लिए अपेक्षाकृत सस्ते अनाज की मांग की जाती है जिसका अर्थ यह होता है कि गांव के उत्पादकों को अपेक्षाकृत कम कीमतें मिलती हैं और इसके साथ ही साथ उन ऊंची मजदूरियों के लिए हड़तालों तथा घिरावों के कारण किसानों और अन्य ग्रामीणों के लिए विनिर्मित वस्तुओं की कीमतें महंगी हो जाती हैं। इस स्थिति को उत्पन्न करने में विधायकों का हाथ होता है।

क्या इसे लोकतंत्र कहा जाएगा? यदि देहात की विशाल जनता वह सब कुछ पाने से वंचित महसूस करे जो उसे मिलना चाहिए और हमारे देश के कतिपय लोगों के हाथों में शक्ति तथा जीवन-निर्वाह के लिए अच्छी वस्तुएं एक छोटे वर्ग में संकेंद्रित हों। चूंकि ग्रामीण अथवा किसान हमारे देश में अधिकतम संख्या में हैं अतः उनके लिए प्रत्येक व्यक्ति केवल मौखिक सेवा करना चाहता है लेकिन कुछ ऐसे भी लोग हैं जो उनके हितों के प्रति वस्तुतः द्वेष रखते हैं। ग्रामीण या किसान को चुनावों के समय याद किया जाता है लेकिन उसकी आवाज़ शायद ही शक्ति केंद्रों में सुनी जाती हो।

पश्चिमी देशों में राजनीतिक नेतृत्व अथवा प्रशासन पर शहरी प्रभाव का कोई विशेष महत्त्व नहीं है क्योंकि उनकी अर्थव्यवस्था में ग्रामीण क्षेत्रक की बहुत कम भूमिका होती है और कतिपय देशों, यथा—अमरीका में उन्होंने अलिखित नियम बना लिया है कि कृषिमंत्री वही व्यक्ति होगा जो कृषि वर्ग से आए। इसके अलावा वहां दुर्भिक्ष का कोई खतरा नहीं है जबकि भारत में है।

हमारे नेताओं और प्रशासकों के लगभग पूर्ण मानसिक विचार पर नगर हावी रहता है; गांव का प्रभाव बहुत कम या नहीं के बराबर है। यही कारण है कि लगभग समस्त कर्मचारी वर्ग, जो ग्रामीण क्षेत्रों में राष्ट्रीयकृत वाणिज्यिक बैंकों की नवस्थापित शाखाओं को चलाते हैं, में नगरों से ही भरती किए जाते हैं और उन्हें ऊंचे वेतन दिए जाते हैं। ये शाखाएं 1970 में स्थापित की गई थीं। फिर भी केवल पांच वर्षों बाद

अर्थात् 1975 में इस समस्या का अहसास नई दिल्ली में बैठे हुए देवताओं के मस्तिष्क में आया कि देहातों में स्थित इन बैंकों के कर्मचारियों की अधिक परिलब्धियां हैं और उनकी सेवाओं की शर्तें शहर के अनुकूल हैं। 21 और 22 अगस्त, 1975 को राजधानी में एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन की कार्रवाइयों के अनुसार यह विचार किया गया कि वाणिज्यिक बैंकों की संरचना की लागत अधिक है और उनके कर्मचारी शहर के अनुकूल हैं जिसके कारण ये बैंक ऐसे प्रभाव को उत्पन्न करने में असमर्थ हो गए हैं जैसाकि राष्ट्रीयकरण की शुरुआत के समय उनसे आशा की जाती थी।

भारत में फार्म-विस्तार-कार्य की असफलता के मुख्य कारणों में से एक कारण विस्तार कामगारों का सामाजिक स्वरूप है। 19 मार्च, 1976 के 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', नई दिल्ली के संपादकीय में कहा गया है :

> "जिस प्रकार सामुदायिक विकास अथवा पंचायती राज व्यावहारिक रूप से परिवर्तन में गतिशीलता लाने के बजाय देहातों में पूर्व स्थिति बनाए रखने के कारण छिन्न-भिन्न हो गया, फार्म-विस्तार भी उसी तरीके से अस्त-व्यस्त हो गया है जिस रूप में इसे कार्यान्वित किया गया है। विश्व बैंक के एक विशेषज्ञ भारत में पहले कृषि-आयुक्त रहे हैं। उन्होंने कुछ ही समय पूर्व इस मुख्य समस्या के विषय में बताया कि विस्तार कामगारों के फार्मिंग समुदायों में बाहर से भी कामगार लगाए गए हैं। वे किसानों का विश्वास नहीं करते। वे इस बात के लिए भी उत्सुक नहीं हैं कि वे गांव में अधिक समय व्यतीत करें। वे फार्मिंग को भी नहीं समझते। अतः उनके संभावित लाभ उठाने वालों की कठिनाइयों के विषय में उनकी चिंता वास्तविक न होकर मात्र शैक्षिक है।"

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, 1951 की अध्यक्षता डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने की। इस आयोग ने यह सिफारिश की थी कि, "जहां तक संभव होगा कृषि-शिक्षा, कृषि शोध-कार्य और कृषि-नीति का निर्माण उन्हीं व्यक्तियों या व्यक्तियों के दलों अथवा संघों के हाथों होगा जो कृषि-जीवन की प्रथम जानकारी से अवगत हों तथा जिनका कृषि-जीवन के साथ आंतरिक संबंध रहा हो और उस जीवन में उनकी सहभागिता तथा अनुभव हो।" परन्तु इस सिफारिश का कोई परिणाम नहीं निकला, इसके विपरीत भारत सरकार ने ऐसे कृषि-मंत्री रखे जिन्हें 'रवी' और 'खरीफ़' फसल के अंतर भी नहीं मालूम थे।

इसी प्रकार उन उच्च पदों पर आसीन अधिकारियों के उदाहरण हैं जो कृषि-विभाग में काम पर लगे हुए हैं और जो गन्ने तथा ज्वार के पौधे में विभेद नहीं कर सकते। पशुपालन विभाग के अधिकारी ऐसे हैं जिन्होंने इससे पूर्व कि वे पशु-चिकित्सा कॉलिज जाएं, स्वयं अथवा जिनके परिवारों ने कभी भी कोई गाय, बकरी या भैंस नहीं पाली है या रखी है और कतिपय चीफ़ इंजीनियर भी ऐसे हैं जो यह नहीं जानते कि किसी विशेष फसल की कितनी वार सिंचाई की आवश्यकता होती है और

नहर को मरम्मत करने के लिए कब बंद करना चाहिए और कब नहीं बंद करना चाहिए । राजनीतिक नेताओं के लिए जो कुछ भी सही है वही उच्च पदासीन प्रशासकों के लिए भी सही है क्योंकि उच्च पदासीन अधिकारी कहीं अधिक संख्या में शहरी वर्ग के ही होते हैं ।

यह देखकर आश्चर्य होगा कि कई योजनाकार, अर्थशास्त्री और प्रशासकों ने किसी गांव में पैर भी नहीं रखा है जबकि उनके लगभग 80 प्रतिशत भाई गांवों में रहते हैं और काम करते हैं । राजनीतिक सिविल अधिकारी, विश्वविद्यालय अध्यापक अथवा व्यापारी शहरी लोगों की आवश्यकताओं की अधिकांशतया पूर्ति करते हैं और वे अपने हितों अथवा अपने जीवन के भविष्य के लिए अधिक लगा रहता है और उसे प्रत्येक प्रकार का ऐसा प्रोत्साहन मिलता है जिससे कि वह अपना समय पूर्णतया बड़े शहरों में लगाए । "यहां तक कि गांव में पैदा होने वाला व्यक्ति अपने संबंधियों को भार समझने लगता है क्योंकि उसे बराबर यह भय बना रहता है कि कहीं उसे देहात में ले जाकर फिर गांव से न मिला दिया जाए । अतः उसके लिए सबसे अच्छा यही है कि वह गांव के दुःख को भूल ही क्यों न जाए ।"

कृषि सहकारी समितियों के बारे में 1956 में भारतीय प्रतिनिधि मंडल चीन गया । इस प्रतिनिधि मंडल के प्रमुख श्री आर० के० पाटिल थे । उन्होंने यह बताया :

> "यद्यपि प्रशासन की प्रवृत्ति में अंतर दृष्टिगोचर होता है फिर भी पुरानी पद्धति, परंपराएं और दृष्टिकोण अभी तक समाप्त नहीं हुए हैं और यह प्रशासन के लिए कठिन है कि समान रूप से विश्वास और सहकारिता के आधार पर कार्य किया जाय । जनता के साथ तादात्म्य स्थापित करना और भी कठिन हो जाता है क्योंकि तथ्य यह है कि प्रायः उच्च सेवाओं में समाज के ऊंचे वर्गों और जातियों के व्यक्ति आ जाते हैं ।" (रिपोर्ट, पृष्ठ 139-40)

उदाहरण के लिए संघ के सबसे अधिक जनसंख्या वाले राज्य उत्तर प्रदेश में दो ऊंची जातियों में बारह प्रतिशत से भी कम जनसंख्या है परंतु प्रशासन के लगभग सभी विभागों में सरकारी पदों पर इन जातियों के 50 से 75 प्रतिशत व्यक्ति काम करते हैं ।

जुलाई, 1961 में मसूरी स्थित राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी की वाणिज्य पत्रिका में श्री आर० के० त्रिवेदी और डॉ० डी० एन० राव ने एक लेख प्रकाशित कराया जिससे यह विदित होगा कि 1,192 में से केवल 143 (अथवा 12 प्रतिशत) आई० ए० एस० अधिकारी अपने देश में उस समय किसी किसान के घर में पैदा हुए थे । समय बीतने पर भी इस संवर्ग में भरती किए गए अधिकारियों में बहुत कम या नगण्य अंतर रहा । 1974 में आई० ए० एस० संवर्ग में भर्ती हुए किसानों के बेटों की प्रतिशतता बढ़कर 14 हो गई ।

संघ लोक सेवा आयोग ने एक सर्वेक्षण किया है । उनके अनुसार 1975 में आई० ए० एस० और आई० पी० एस० सेवाओं के लिए कुल 165 सफल उम्मीदवारों

में से कुल मिलाकर 50 उम्मीदवार देहाती क्षेत्रों के थे अर्थात् इन उम्मीदवारों में से कृषि तथा कृषीतर पृष्ठभूमि के उम्मीदवार शामिल थे जिसका अर्थ यह है कि शहरी मूल के युवक के लिए गांव के अपने समकक्ष प्रतियोगी युवक की तुलना में इन उच्च सेवाओं में प्रवेश करने के अवसर नौ गुने थे। भारत में उच्च सिविल अधिकारियों के व्यापक अध्ययन के आधार पर बी० सुब्रह्मण्यम[3] ने यह निष्कर्ष निकाला कि उनके अधिकांश अधिकारी (80 प्रतिशत या इससे अधिक) शहरी वेतन भोगी और व्यावसायिक मध्य वर्ग से आए हैं। इसके विपरीत किसान और कृषि श्रमिक केंद्रीय सेवाओं में कुल मिलाकर बहुत ही कम प्रतिनिधित्व पा सके हैं। यहां तक कि कारीगरों और औद्योगिक कामगारों की संख्या भी कुछ अधिक रही है। बलदेव आर० शर्मा ने यह बताया है कि यह तथ्य विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि इस अध्ययन में न केवल क्षेत्र को लिया गया है बल्कि इसमें केंद्रीय सरकार की उन सेवाओं का भी विशद् विवेचन है जो कम से कम दो नीतियों के अंतर्गत काम करती हैं। एक नीति के अनुसार आर्थिक रूप से वंचित अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सदस्यों के लिए भरती की संख्या निर्धारित की जाती है और दूसरी के अनुसार भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना की जाती है।"[4]

1979 में आयोजित सिविल सर्विसेज परीक्षा के परिणामों पर आधारित नियुक्ति के लिए 702 उम्मीदवारों की सिफारिश की गई जिन्हें विविध अखिल भारतीय सेवाओं में भर्ती किया जाना था। इस अध्ययन के विश्लेषण से यह पता लगा है कि इन उम्मीदवारों में से 42.73 प्रतिशत उम्मीदवार उन परिवारों से आए थे जिनके पिता / अभिभावक गांव में बस गए थे। इससे यह विदित होता है कि शहरी मूल के युवक के लिए इस सेवा के लिए केवल 5 गुने अवसर हैं, जबकि गांव से उसके प्रतियोगी की तुलना की जाए। इससे यह प्रकट होता है कि 1975 के आंकड़ों में सुधार हुआ है लेकिन इन दोनों वर्गों के बीच में बहुत बड़ा अंतर अब भी है।

ऊपर दिए गए अनुपात ने श्रीमती गांधी की कांग्रेस सरकार को चेतावनी दे दी है। पाठक को 11 जून, 1980 को प्रकाशित 'इकनॉमिक टाइम्स', नई दिल्ली के एक समाचार को पढ़कर आश्चर्य होगा :

> 10 जून, 1980 को नई दिल्ली में योजना आयोग के वरिष्ठ अधिकारियों को संबोधित करते हुए केंद्रीय योजना मंत्री श्री एन० डी० तिवारी ने शहरी शिक्षित युवकों को रोजगार उपलब्ध कराने के लिए विशेष ज़ोर दिया है क्योंकि प्रतिवर्ष कालेजों और विश्वविद्यालयों से हजारों युवक अध्ययन करके बाहर आ रहे हैं। उन्होंने कहा कि इस समस्या के प्रति तत्काल ही ध्यान दिया जाना है।

3. बी० सुब्रह्मण्यम, 'सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियाज एडमिनिस्ट्रेटर्स', नई दिल्ली : भारत सरकार, प्रकाशन प्रभाग, 1971.
4. देखिए 'इकनॉमिक एंड पॉलीटिकल वीकली', बंबई, फरवरी, 1976.

भारतीय नौकरशाही की इस संरचना से यह स्पष्ट है कि जनकल्याण विशेषकर ग्रामीण जनता के लिए बनाई गई अथवा उनके निमित्त सरकारी योजनाओं की अदूरदर्शिता अधिकांशतया देखने को मिलती है और हालांकि योजनाएं यथार्थपूर्ण हैं फिर भी उनकी असफलता अथवा निराशापूर्ण कार्यान्वयन भी दिखाई देता है।

श्री रोमेश थापर ने 29 जनवरी, 1981 के 'स्टेट्समैन', नई दिल्ली में प्रकाशित अपने लेख, 'राइज़ ऑफ़ पीजेंट पावर' में लिखा है, "औपनिवेशिकता के दिनों में यद्यपि सामाजिक सापेक्ष महत्त्वों का अभाव था फिर भी कम से कम ब्रिटिश राज्य के स्थानीय प्रतिनिधियों ने यथासंभव यह प्रयत्न किया कि ऐसी भावना पैदा की जाय जो उसके चारों तरफ थी और जिसे वह देख रहा था और जिसका वह निरीक्षण कर रहा था। अब यदाकदा कोई जीप तेज़ी से गांव में दौड़ जाती है। फिर भी हजारों ग्रामीण किसी भी प्रशासक के प्रभाव को वस्तुतः महसूस नहीं कर सके। या तो प्रशासक मिसलों के बोझ से दबा रहता है या उसके पास कर्मचारियों की संख्या बहुत कम होती है अथवा दौरा करने के व्यय निषेधात्मक हो जाते हैं अथवा कई कार्यों का प्रतिनिधान (शायद सुस्त कार्यकर्ताओं के लिए) कर दिया जाता है। उनमें आम लोगों की भावना पहचानने की रुचि में उत्तरोत्तर कमी हो जाती है। गांव में बसा भारत नगर से भिन्न है, वह मूक रहता है लेकिन वह इस योग्य है कि देश में जो कुछ हो रहा है उसे अपने ढंग से ही समझ सके। सर्वत्र उदासीनता की गहरी भावना फैली हुई है।

श्री थापर ने हमारे अधिकांश प्रशासकों के सामाजिक मूल को गांव के प्रति उदासीनता का मुख्य कारण बताया है और कहा है कि शासक और शासित के बीच मधुर संबंध अथवा भावनात्मक बंधन का अभाव है।

इस प्रयोग में ऐसा अशुभ विकास हुआ है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उच्च पदों की सेवाओं में नए व्यक्तियों की भर्ती बढ़ते हुए अनुपात में उसी शासक वर्ग से की जाती है जैसी कि वर्तमान नौकरशाही है अतः उच्च सेवाओं में नवागंतुक अधिकारी प्रायः इस प्रकार की सेवाओं के परिवार का सदस्य या वंशज होता है। केवल यही नहीं है : आज जिनके पास नौकरी है, वे अपने काम-धंधे को ऐसी परिवर्तनीय संपत्ति अथवा स्वामित्व की वस्तु मानते हैं जो उनके उत्तराधिकारियों को अधिकार के रूप में मिल जानी चाहिए। 14 मई, 1980 के 'फाइनैंशियल एक्सप्रेस' ने अपने संपादकीय में इस प्रकार लिखा है :

आश्रितों के लिए काम-धंधे

> केंद्रीय रेल मंत्रालय को इस बात में हिचक नहीं होनी चाहिए कि राष्ट्रीय रेलवे मजदूर संघ की इस मांग को ठुकरा दिया जाय कि रेलवे कर्मचारियों के आश्रितों को रेलवे सेवा में भर्ती किया जाय। अलबत्ता, यह सही है कि रेलवे कर्मचारी ही केवल ऐसे नहीं हैं जो इस प्रकार की मांग करते हैं। कतिपय बैंकों के कर्मचारियों ने भी मांग की है कि उनके बच्चों और अन्य आश्रितों को बैंकों की सेवा में ले लेना चाहिए, चाहे संबंधित उम्मीदवारों की अर्हताएं कुछ ही क्यों न

हों। अलबत्ता, उन ट्रेड यूनियनों के नेताओं को दोष देने की कोई बात नहीं है जो अनर्गल मांगें करते हैं जबकि राजनीतिक स्वयं कर्मचारियों के बेटों को काम-धंधों पर लगाने के सिद्धांत का खुलकर प्रतिपादन करते हैं। कर्नाटक के एक मंत्री ने कर्मचारियों के बच्चों के लिए सरकारी कार्यालयों और सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों में काम-धंधों के आरक्षण के लिए कानून बनाने का समर्थन किया। और चूंकि सार्वजनिक क्षेत्रक से यह आशा की जाती है कि वह निजी क्षेत्रक के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करे, और विशेषकर श्रम कल्याण के संबंध में ऐसा हो, अतः इस आशंका का कारण है कि सरकार अंततोगत्वा कर्मचारियों के बेटों को काम-धंधे पर लगाने के सिद्धांत का निजी क्षेत्रक में भी विस्तार कर देगी। इसलिए यह आवश्यक है कि इस नई मांग को उठने देने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

गत अध्याय (पहले भाग) में यह पहले ही बताया गया है कि व्यावसायिक विद्यार्थी विशेष प्रकार से उन व्यक्तियों के पुत्र और पुत्रियां ही हैं जो सरकार या उद्योग या स्वनियोजित व्यवसायों पर लगे हुए व्यवसायी और व्यापारी हैं तथा जो पर्यवेक्षण और अधिशाषी पदों पर काम कर रहे हैं, इसका अर्थ यह है कि वर्तमान नौकरशाही तेजी से वंशानुगत जाति में बदल रही है और सरकारी नौकरियों के उच्च सोपानक वस्तुतः उन लोगों के पुत्रों के लिए बंद हो गए हैं जो आज इस आकर्षक वर्ग से बाहर हैं, विशेषतया जो कि ग्रामीणों के पुत्र हैं।

15 नवंबर, 1976 को लोकसेवा आयोग के अध्यक्षों के सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने यह कहा :

> "हमारी भर्ती पद्धति की नीति ऐसी होनी चाहिए कि यह अधिकाधिक रूप से ग्रामोन्मुख हो। यह इसलिए नहीं कि इसके पीछे कोई आदर्शवाद है बल्कि यह इस कठोर सत्य पर आधारित है कि भारत के अधिकांश लोग देहाती क्षेत्रों में रहते हैं और वे भविष्य में भी रहते रहेंगे। हम भारत को औद्योगिकीकृत करना चाहते हैं लेकिन हम इस बात से पूर्णतया आश्वस्त हैं कि अधिकांशतया कृषि समुदाय ही बना रहेगा और हमें इस बात की प्रसन्नता है कि कृषि समुदाय ही बना रहे क्योंकि हमारी मुख्य आवश्यकता अन्न है और हम कोई भी ऐसी परिस्थिति स्वीकार नहीं कर सकते जिसमें अन्न का अभाव हो। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों का विकास किया जाना चाहिए और जो लोग उन क्षेत्रों में जा सकते हैं और उनका विकास कर सकते हैं उन्हें अपेक्षाकृत अधिक अच्छे अवसर देने चाहिए।"

पाठक इस बात पर ध्यान देगा कि इरादा यह था कि 'उन लोगों को भर्ती किया जाना चाहिए जो देहाती क्षेत्रों में जा सकते हैं और उनका विकास कर सकते हैं' और उन लोगों को भर्ती नहीं करना चाहिए जो देहाती क्षेत्रों में पैदा हुए हैं अथवा उन्हीं क्षेत्रों के हैं। यह उपदेश देहाती मतदाता के लिए और उसी को संबोधित करते

हुए कहा गया था क्योंकि आगामी संसदीय चुनाव केवल तीन महीने बाद ही होने को था।

फिर भी चिंता का विषय क्या होगा, इस बारे में यह सत्य है कि हमारे भाग्य-विधाता इस बात से 'प्रसन्न' हैं कि "भारत अधिकांशतया कृषि समुदाय रहेगा।" क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता है तो अन्न का अभाव रहेगा जो उनकी प्रमुख आवश्यकता है : यह बात भुला दी जाती है कि भारत की अर्थव्यवस्था को आज की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत रूप में विभिन्न क्षेत्रों में फैलाया जा सकता है और ऐसा होने पर भी किसी प्रकार से अन्न का कोई अभाव नहीं होगा।

इस प्रसंग में कृषीतर परिवारों से आए राजनीतिक नेता और प्रशासक की योग्यता या विश्वसनीयता का प्रश्न असंगत है। हमारी राजनीतिक और प्रशासकीय व्यवस्था में शहरी मूल के व्यक्तियों की प्रचुरता का अर्थ यह है कि एक ओर शासकों के मूल्यों और हितों और दूसरी ओर शासितों के मूल्यों और हितों के बीच में बहुत ही कम या नगण्य समानता है। एक व्यक्ति के मत अधिकांशतया उसके परिवार और उसके परिवेश के आय के स्रोत के अनुसार बनते हैं। उसके माता-पिता, उसका वातावरण, उसका व्यवसाय और उसके मित्र, परिचित और संबंधी—इन सभी के मिले-जुले प्रभाव से उसके संस्कार बनते हैं और यही संस्कार व्यक्ति के जीवन के दृष्टिकोण को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार से आदमी के दृष्टिकोण और मत का जो निर्माण होता है उसमें शिक्षा से बहुत कम अंतर आता है, और यदि कोई अंतर आता भी है, तो वह इन संस्कारों को पुष्ट ही करता है।

शिक्षा से वैसे भी कोई अंतर नहीं होता। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बावजूद और स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से स्कूलों और कॉलिजों में पश्चिमी सामाजिक मूल्यों और तरीकों को अधिक स्थापित किया गया है और अब ये स्कूल और कॉलेज पहले की अपेक्षा अधिक फल-फूल रहे हैं। इन स्कूलों और कालेजों में सबसे अधिक प्रवेश पाने वाले वे विद्यार्थी हैं जो शहरों और नगरों के धनी परिवारों के वंशज हैं और यही धनी परिवार अपने बच्चों को इन स्कूलों और कॉलिजों में शिक्षा दिला पाते हैं। चूंकि उनके घरों का वातावरण जैसा होता है उसी के अनुसार वे सार्वजनिक या निजी क्षेत्रक में काम-धंधे प्राप्त कर लेते हैं और उन्हें इतना अधिक धन दिया जाता है कि वे अधिकांश लोगों से अलग रहने लगते हैं और विशेषकर वे ऐसे लोगों से अलग रहते हैं जो गांव में रहते हैं। शीर्ष स्थान के नेताओं ने राजनीतिक निदेश भी दिए हैं जिनके अनुसार शासक और शासित के बीच में भेद की पुष्टि हुई है : पुराने मूल्य और पुराने पक्षपात अक्षुण्ण रूप में विद्यमान हैं। ग्रामीण आज भी 'सीधा-सादा', 'गंवार', 'देहाती' अथवा 'दहकानी' है जो हल चलाने के लिए अथवा फौज या पुलिस में एक सिपाही या कांस्टेबिल का काम करने के लिए ही ठीक है। स्वतंत्रता, लोकतंत्र और आर्थिक विकास के लाभ शहरी क्षेत्रों में रहने वाले अधिकांशतया कतिपय चुने गए वर्गों और परिवारों के लिए ही सुरक्षित हैं। इन दोनों के सामाजिक मूल्य और आर्थिक हित अलग-अलग होने के कारण ग्रामीण सार्वजनिक कार्यकर्ता को राजनीतिक नेतृत्व की आकांक्षा भी

शासक, शहरी प्रबुद्ध वर्ग की आंख में खटकती है। अन्य कारणों से कहीं अलग हटकर एक कारण यह है कि गांव की अवहेलना की गई है और किसानों के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार किया गया है क्योंकि हमारा अतीत सामंतशाही और औपनिवेशिक रहा है। इस शासन-पद्धति में किसानों की प्रतिष्ठा कृषिदास जैसी रही है और अब भी अतीत के सामाजिक संबंध और मानसिक प्रवृत्तियां विद्यमान हैं। हमारे समाज में किसानों को निम्न प्रतिष्ठा दी गई है जो इस तथ्य से स्पष्ट है कि कल तक उन्हें किसी भी स्तर की अपने उत्पादन की कीमत का निर्धारण करने में किसी भी अवस्था पर कुछ भी कहने का कोई अधिकार नहीं था और यह भी सत्य है कि उनका हित सदैव ही शहरी उप-भोक्ताओं के हितों के अधीन रहा है। सभी विकासात्मक कार्यक्रमों में उच्च उत्पादन पर ही ज़ोर दिया जाता है और इस बात को सुनिश्चित करने का कोई प्रयास नहीं किया जाता कि उच्च उत्पादन के लाभ उत्पादकों को मिलें। वास्तव में उत्पादक को उत्पादन का माध्यम समझा जाता है और उसे विकास का उद्देश्य नहीं माना जाता।

3 नवंबर, 1979 की 'कामर्स' पत्रिका में प्रकाशित डॉ० वी० के० आर० वी० राव के लेख "हैज़ मिक्स्ड इकानॉमी बिकम आब्सलीट" में दिए गए उनके हाल के कथन का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा, जो निम्न प्रकार है :

> "भारतीय परिस्थिति में एक मूल कमजोरी यह है कि उच्च और मध्य वर्गों और जातियों के लोगों ने ही प्रमुख रूप से राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व किया है—यहां तक कि समाजवादी कहलाने वाले दलों के नेतृत्व की संरचना भी वैसी ही उच्च और मध्य वर्ग पर आधारित है जैसे कि मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले दल हैं, यथा—कांग्रेस और जनता पार्टी के विभिन्न दल। इसी स्थिति ने नेतृत्व को इस बात से वंचित कर दिया है कि वे भारतीय जनता के साथ वास्तविक और संरचनात्मक अन्योन्य क्रिया स्थापित कर सकें और इसी कारण व्यापक शिथिलता और सामाजिक अनुशासन की कमी हुई है जो आज भारतीय समाज के सभी भागों में व्याप्त है।"

प्रसंगवश यहां यह भी कहना होगा कि देश में इस प्रकार का नेतृत्व है जो उच्च और मध्य वर्ग से उभरकर आया है। इन्हीं वर्गों के लोग पहले से ही अधिक अच्छे भुगतान किए जाने वाले संगठित कामगारों को बोनस अथवा 13 महीने का वेतन दिए जाने की बात करते हैं, चाहे ये कामगार निजी या सार्वजनिक क्षेत्र के हों और यहां तक कि चाहे वे सरकारी कर्मचारी हों। परंतु यह नेतृत्व उन लोगों के लिए मौन है जो सीमांत किसानों के रूप में विशाल असंगठित जनता का है। इन सीमांत किसानों के साथ-साथ कृषि मजदूर, गंदी बस्तियों के निवासी और अन्य व्यक्ति भी शामिल हैं जो हमारी जनसंख्या के 38 करोड़ लोगों से भी अधिक हैं और वे आज गरीबी रेखा से भी नीचे रह रहे हैं।

शहरी विशिष्ट वर्ग से आए शासक वर्ग लोगों को उन लोगों के भाग्य की चिंता ही नहीं होती जिन पर वे शासन करते हैं। यह तथ्य 16 मार्च, 1981 के 'हिंदुस्तान

टाइम्स', नई दिल्ली में प्रकाशित हैदराबाद के संवाददाता द्वारा प्रेषित निम्न सूचना से स्पष्ट है :

"आंध्र प्रदेश में 17 लाख से भी अधिक किसान सूखे से पीड़ित हैं। लेकिन राज्य की राजधानी में उनकी दुर्दशा पर आंसू बहाने वाला कोई नहीं है, हाथ बंटाने की बात तो दूर है। यहां जीवन मौज-मस्ती का है—ऐसा लगता है कि बार, रैस्ट्रां, होटल, क्लब इन लोगों की प्राकृतिक आपदाओं के दुखों से बिल्कुल अछूते हैं।

"कौन इन लोगों की चिंता करता है ? उनकी फसलें खेतों में मुरझा रही हैं, उनके पशु चारे के बिना घूम रहे हैं, उनके बच्चे अन्न के एक ग्रास के लिए तड़प रहे हैं, उनकी स्त्रियां पानी के लिए लम्बे रास्ते तय कर रही हैं। इंद्र भगवान् भी उनकी प्रार्थना नहीं सुनते। इसलिए वे कहते हैं कि उनकी प्रार्थना सरकार तक पहुंचाई जाए।

" लेकिन शहरी दुनिया में रमे हुए लोग इस भयंकर स्थिति से बिल्कुल ही अछूते हैं। वे अपने मनोरंजन के लिए जाज, संगीत, ब्लू फिल्म, कैबरे, ताश, कुत्तों के जन्मदिन और हॉर्स रेस में लगे हुए हैं। "

इस संबंध में उस दृश्य का स्मरण हो आता है जबकि हैमलेट ने कलाकारों में से एक कलाकार को हेक्यूबा की भूमिका अदा करते हुए मंच पर देखा जो कृत्रिम आंसू बहा रहा था तो उसने कहा :

"उसके लिए हेक्यूबा क्या है या हेक्यूबा के लिए वह क्या है कि वह उसके लिए आंसू बहाए।"

शहरी विशिष्ट वर्ग के लोग कृषि की अपेक्षा औद्योगिकीकरण को उच्चतर प्राथमिकता देने के लिए एकमत हो जाते हैं। नई दिल्ली में उच्च सलाहकार पदों पर आसीन कतिपय पश्चिमी प्रशिक्षित विशेषज्ञ इस सिद्धांत को स्वीकारते हैं कि गैर औद्योगिक समाज में आर्थिक विकास कृषि और कृषि-प्रक्रिया में अधिक निवेश के साथ प्रारंभ किया जाना चाहिए—इन निवेशों को ऐसा बनाना चाहिए कि वे ग्रामीण जनता को इस प्रकार परिवर्तित करें कि वे घरेलू वस्तुओं के विनिर्माण के लिए प्रभावी बाजार तैयार कर सकें। हमारे देश के अधिकांश युवा प्रविधितंत्री इस बात को अधिक पसन्द करते हैं कि कृषि की अवहेलना करके उद्योग के तीव्र प्रसार द्वारा देश का आर्थिक भविष्य बनाया जाय। उनके लिए ग्रामीण समस्याएं और परियोजनाएं पुराने बुरे दिनों की याद भर हैं।

इस संबंध में श्री गिरिलाल जैन ने 13 मार्च, 1974 को 'टाइम्स ऑफ इंडिया', नई दिल्ली में प्रकाशित एक लेख में यह कहा है :

"उद्योग के पक्ष में रुझान कई प्रकार के कारकों के फलस्वरूप है। इन कारकों में प्रमुख रूप से आधिपत्य जमाने वाले राष्ट्रीय विशिष्ट वर्ग के

लोगों की शहरी प्रवृत्ति है, उन्नीसवीं शताब्दी का यह विश्वास है कि औद्योगिकीकरण से न केवल शिक्षित पुरुषों को अपितु देहात की ऐसी अतिरिक्त जनता के लिए भी रोजगार के अवसर जुट जाते हैं जो कृषि के लिए भी अव-रोध हैं और ऐसे ही व्यापक रूप से यह दृढ़ विश्वास है कि औद्योगिक संवृद्धि परंपरायुत तथा स्थिर समाज, आर्थिक समृद्धि, सैन्य-शक्ति और विश्व समुदाय में प्रतिष्ठा के आधुनिकीकरण के पर्याय हैं।"

शासन करने वाले विशिष्ट वर्ग के सदस्यों में आपस में इस बात पर मतभेद है कि क्या भारी उद्योग को योजनाओं में शीर्ष प्राथमिकता दी जाय या उपभोक्ता वस्तुएं विनिर्मित करने वाले हल्के उद्योग को विशेष स्थान दिया जाय। परन्तु इन दलों में से कोई भी दल कृषि को उद्योग की नौकरानी के अलावा कुछ भी नहीं समझता। उन्होंने चेतन अथवा अचेतन रूप से देश की प्रगति अथवा आर्थिक विकास को सदैव ही औद्योगिकीकरण का पर्याय माना है।

उनकी आनुवंशिकता और वातावरण के अलावा, जिसमें वे रहते हैं, हमारे शासक वर्ग का विश्वास अथवा प्रवृत्ति का मुख्य कारण इस तथ्य में निहित है कि यह विश्वास अथवा प्रवृत्ति उन पाठ्य-पुस्तकों के अध्ययन के आधार पर बनी है जो हमारे देश की परिस्थितियों से भिन्न परिस्थितियों में लिखी गई थीं अथवा जिनकी प्रेरणा-स्रोत कार्ल मार्क्स की विचारधारा है। कार्ल मार्क्स ऐसी राजनीतिक व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे जो हम लोग मानते हैं और उन्होंने ग्रामीण समस्याओं का भी विशेष अध्ययन नहीं किया था। मार्क्स की शिक्षाओं से आकर्षित और सोवियत प्रचारकों से भ्रमित हमारे राजनीतिक नेता, आर्थिक योजनाकार और प्रशासक यह विश्वास करते हैं—और अभी तक यह विश्वास कर रहे हैं—हालांकि उन्होंने अपने आप कोई आलोचनात्मक विश्लेषण नहीं किया है—कि उनके सामने विनिर्माण के उद्योग के क्षेत्र में सफलतापूर्वक काम करने वाली बड़ी आर्थिक इकाइयां हैं। उसी प्रकार कृषि के क्षेत्र में भी यंत्रीकृत उपक्रम अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन कर सकते हैं।

जापान और कतिपय अन्य देशों में आज भी भारत की अपेक्षा औसत रूप से परिवार-कार्य का क्षेत्रफल कम है, इस तथ्य को भुलाते हुए वे यह विश्यास करते हैं कि नगर निवासियों को खिलाने के लिए आवश्यक खाद्यान्न और उद्योग की मशीनों (जो नगरों में स्थित हैं) के लिए कच्चा माल उस समय तक पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक कि बड़े राज्य-फार्म स्थापित न कर लिए जायं अथवा किसान छोटे पैमाने की खेती को छोड़ दें और उन समितियों में सम्मिलित हो जायं अथवा मिल जायं जहां बड़े पैमाने पर खेती संभव है और जहां ट्रैक्टर, हारवेस्टर-थ्रेशर संयुक्त मशीनें और अन्य बड़ी कृषि-मशीनरी लाभदायक ढंग से प्रयोग की जा सकती हैं। वे कृषि को भी कारखाने का रूप देना चाहते हैं।

संयुक्त सहकारी फार्मों के अलावा अन्य तीन नारे अथवा योजनाएं हैं जिनके बारे में नई दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता में राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद से

ही विशद् चर्चा की गई है और अभी तक इन्हें कार्यान्वित नहीं किया गया है तथा इसे भविष्य में भी कार्यान्वयन नहीं किया जाएगा। ये तीन योजनाएं हैं : खाद्यान्नों में राज्य व्यापार, फसल-बीमा और कृषि-मजदूरों को न्यूनतम मजदूरियों की गारंटी। ये सभी योजनाएं अधिकांशतया हमारे शहरी विशिष्ट लोगों द्वारा प्रतिपादित की गई हैं क्योंकि वे मानवीय प्रकृति, हमारे देश के देहातों के जन-जीवन की परिस्थितियों और उस लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था के निहितार्थों से अपरिचित हैं जिसे हमने अपने लिए तैयार किया है। प्रथम दो योजनाएं अर्थात् सहकारी फार्म और खाद्यान्नों में राज्य-व्यापार उस संकल्प में शामिल कर ली गई थीं जो जवाहरलाल नेहरू के आग्रह से जनवरी, 1959 में नागपुर में आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अधिवेशन में पारित किया गया था। पहली योजना की उपयोगिता और व्यावहारिकता का विशद् विवेचन पहले ही इस पुस्तक के पहले भाग में किया जा चुका है।

खाद्यान्नों में राज्य व्यापार

जहां तक खाद्यान्नों में राज्य व्यापार का संबंध है यदि सरकार एक बार भी यह योजना अपने हाथ में लेती है तो बाजार में कोई प्रतिद्वन्द्वी खरीदार नहीं होगा। शासन ही ऐसी कीमतें निर्धारित कर लेगा जैसी कि उसकी इच्छा होगी। वास्तव में यह संभावना है कि ऐसी कीमत निर्धारित की जायेगी जो उद्योग के पथ में व्यापार की शर्तों को भी बदल देगी।

इसके अतिरिक्त, कीमतों पर नियंत्रण आपूर्ति पर नियंत्रण किए बिना कहीं भी सफल नहीं हुआ है। और आपूर्ति पर नियंत्रण की सफलता के लिए सरकार को खाद्यान्न के उत्पादन को अपने हाथ में लेना होगा। इस प्रकार सामूहिक खेती रूस में स्थापित की गई—यह ऐसी खेती है जिसकी कल्पना कोई भी व्यक्ति लोकतंत्र के अधीन नहीं कर सकता।

साम्यवादी इस तथ्य को खुले रूप से कहते हैं कि उनकी व्यवस्था के अन्तर्गत किसान वर्ग ही ऐसा है जिसका दोहन किया जाना चाहिए और जो बेशी खाद्यान्न तथा कच्चे माल के रूप में उद्योग को उसके अनुकूल शर्तों पर कार्यरत पूंजी प्रदान करे और इसके साथ ही साथ, ऊंची उगाहियों या करों के रूप में उद्योग की आधारिक संरचना में निवेश के वित्तपोषण में विशेष रूप से योगदान करे जिससे कि ऐसा करने पर उसके अपने कल्याण के लिए किसी महत्त्वपूर्ण वृद्धि की गुंजाइश न रहे। साम्यवादी शब्दावली में कृषक वर्ग ही ऐसा है जिसे कृषीतर क्षेत्रक के लिए 'पोषक आधार' प्रदान करना पड़ता है या आर्थिक संवृद्धि के लिए उत्तरदायी होना पड़ता है।

फसल और पशु-बीमा

जहां तक फसल-बीमा योजना का संबंध है, इस योजना का अभिप्राय यह है कि किसान अथवा उसकी फसल को मुख्यतया उन प्राकृतिक आपदाओं से बचाया जाय और उसके पशुओं को रोग से बचाया जाय जैसा कि समर्थित कीमत का अभिप्राय यह

होता है कि उसकी सहायता से अधिक उत्पादन के परिणामों से किसानों को संरक्षण प्रदान किया जाए।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने मई, 1965 में बड़ी धूमधाम से अपनी इस योजना को आरंभ करने के लिए एक संकल्प पारित किया। काफी समय बाद सरकार ने मई, 1974 में यह निर्णय किया कि छह राज्यों में फसल-बीमा प्रारंभ कराया जाये—पश्चिमी बंगाल में जूट के लिए और अन्य पांच राज्यों में कपास तथा मूंगफली के लिए बीमा-योजना प्रारंभ की जाय। इस निर्णय के कार्यान्वियन में काफी बाधाएं थीं जिसका आज तक देश में किए गए केवल फसल-बीमा प्रयोग के अनुभव से ही पता चलता है। भौतिक निवेश के अलावा गुजरात राज्य उर्वरक निगम द्वारा संगठित इस प्रयोग को सफल होने के लिए प्रबंध क्षेत्र में बहुत अधिक निवेश की आवश्यकता होगी। इसकी सफलता के लिए प्रशिक्षित तकनीशियन, पर्यवेक्षक और अन्य व्यक्तियों की आवश्यकता होगी जिन्हें कृषि का अनुभव हो। लेकिन इस प्रकार के लोगों का अभाव है।

यथातथ्य रूप से फसल को पहुंची हानि का निर्धारण करने की स्पष्ट कठिनाइयां हैं। इसलिए वर्तमान अनुचित व्यवहारों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रकार की प्रवीणता की आवश्यकता होगी। चूंकि कृषि उत्पादन जैविक क्रिया है और यह यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है इसलिए विभिन्न परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह आवश्यक है कि सतर्कता बरती जाए क्योंकि एक जैसी ही फसल विभिन्न क्षेत्रों और कृषि से संबंधित जलवायु की परिस्थितियों से प्रभावित होती है।

अन्य समस्याओं की भी व्याख्या आवश्यक है। क्या यह योजना अनिवार्य होगी? किन कीमतों पर प्राप्तियों और प्रीमियम का अनुमान किया जायेगा? उन क्षेत्रों में क्या होगा जहां सिंचाई सुनिश्चित नहीं है? इसी प्रकार के अन्य प्रश्न हैं।

उपलब्ध सूचना के अनुसार फसल-बीमा योजना जापान और अमरीका में प्रारंभ की गई है। शायद वे इस योजना को वहां सफल बना लें। फिर भी इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें भी वही सफलता मिलेगी। इसका कारण यह है कि हमारे यहां निष्ठा के मानक तुलनात्मक रूप से निम्न स्तर के हैं। क्या वास्तव में फसल को कुछ हानि हुई है—यदि हानि हुई भी है तो उस हानि की मात्रा क्या है? इस प्रकार का विवाद किसान और बीमा कम्पनी के एजेंट में सदा बना रहेगा और उस प्रकार के झगड़े के निदान की संभावना तभी है जब एजेण्ट की मुट्ठी गरम करा दी जाए। केवल एक वर्ष के अनुभव के बाद ही 1975 में गुजरात सरकार बीमा योजना अत्यधिक दावों के फलस्वरूप बंद कर दी गई। किसानों से प्रीमियम की वसूली सरकार के लिए एक अलग सिर दर्द है। इस कार्य के लिए आवश्यक अधिक संख्या में कार्यकर्ताओं को पर्याप्त भुगतान करना होगा जिससे वित्तीय भार अधिक होगा जो लाभ उठाने वाले अर्थात् किसान जिनके पास छोटी जोतें हैं, भुगतान करने के लिए राज़ी नहीं होंगे और न तो सरकार या न कोई बीमा कम्पनी सरलता से यह व्यय-भार वहन कर सकेगी।

शायद यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि लेखक ने भूतपूर्व प्रधानमंत्री

श्री लालबहादुर शास्त्री को अक्टूबर, 1965 में यह लिखा था कि ऐसी योजना को लागू करने से बचा जाए : यह काल्पनिक विचार है और यह असफल हो जाएगा ।

न्यूनतम कृषि-मजदूरी का निर्धारण

औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र के अनुसार कृषि-क्षेत्र में भी 1948 में कृषि न्यूनतम मजदूरी अधिनियम पारित किया गया ताकि श्रमिक के लिए न्यूनतम मजदूरी सुनिश्चित की जा सके । छुट्टी और अवकाश की गारंटी दी गई और कार्य करने के अधिकतम घंटों को निर्धारित किया गया । यदि धारा 20 के अन्तर्गत मजदूर को सरकार द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी की अपेक्षा कहीं कम भुगतान किया जाता है तो वह अपने नियोक्ता पर मुकदमा चला सकता है और नियत प्राधिकारी के समक्ष क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है । श्रमिक संघ भी इस मामले को अपने हाथ में ले सकते हैं । इस अधिनियम के अन्तर्गत ऐसे मामले के संबंध में शीघ्र निर्णयों के लिए क्षतिपूर्ति आयुक्तों की नियुक्ति का भी प्रावधान किया गया है ।

न्यूनतम मजदूरियों के भुगतान को लागू करना निश्चय ही एक प्रभावकारी उपाय है जो भूमिहीन कामगारों अथवा कृषि मजदूरों को सहायता उपलब्ध कराता है, बशर्ते समग्र रूप में कृषि क्षेत्रक ऐसी मजदूरी दे सकता है और श्रम की आपूर्ति उसकी मांग की तुलना में कम अथवा बराबर होती है । परन्तु इस समय इन शर्तों में से किसी शर्त की पूर्ति नहीं की गई है ।

जहां तक पहली योजना का संबंध है : केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के अनुसार हमारे देश में वर्ष 1978-79 में वर्तमान कीमतों पर आधारित कृषि में उत्पन्न निवल राष्ट्रीय उत्पाद 31,023 करोड़ रुपए के मूल्य का था और योजना आयोग के नवीनतम अनुमान के अनुसार भूमि पर काम करने वाले कामगारों जिनमें भूमिधारियों और भूमिहीन व्यक्तियों को मिला दिया गया है, की कुल संख्या 19.243 करोड़ थी । उनकी औसत प्रतिदिन आय केवल 4.43 रुपए निकाली गई है और यह आय अधिकांश कृषीतर व्यवसायों में लागू न्यूनतम मजदूरी से कहीं कम थी और वास्तव में इतनी अधिक कम थी जो कि एक कामगार को अपने परिवार के लिए केवल रोटी और कपड़े की व्यवस्था करने के लिए भी पर्याप्त नहीं थी, पर्याप्त सुखमय स्थिति को बनाए रखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।

जहां तक दूसरी शर्त का संबंध है : किसी भी उद्योग अथवा व्यवसाय में कामगारों की वास्तविक मजदूरियां आपूर्ति और मांग के नियम द्वारा निर्धारित की जाती हैं । उदाहरण के लिए पंजाब में जहां कृषि की प्रधानता सबसे अधिक है, वहां फार्म पर काम करने वाले कामगारों की आवश्यकता इतनी अधिक होती है कि उत्तर प्रदेश, राजस्थान और यहां तक कि बिहार के सुदूर स्थानों से कामगार आते हैं । इसलिए पंजाब में कामगारों को कानून द्वारा निर्धारित मजदूरी की अपेक्षा अधिक मजदूरी दी जाती है । परन्तु मध्य प्रदेश और बिहार में कृषि-मजदूरों को इस प्रकार के कानून बने होने के बावजूद बहुत कम मजदूरी मिलती है जिसका कारण केवल यह है कि इन

राज्यों में कृषि उत्पादन बहुत कम होता है और संभाव्य नियोक्ताओं की अपेक्षा संभाव्य कर्मचारियों की संख्या अधिक होती है।

इसलिए सामान्य रूप से कृषि-मजदूर अथवा ग्रामीण गरीबी की समस्या के निराकरण का सबसे शीघ्रगामी उपाय यह है कि कृषि को अधिक सघन बनाकर अपेक्षाकृत अधिक काम-धंधों का निर्माण किया जाए। लेकिन यह तभी संभव होगा जब किसानों को सघन कृषि के लिए आवश्यक न्यूनतम सुविधाओं की व्यवस्था की जाए। यह बात तभी स्पष्ट होगी यदि हम भारत के दो राज्यों पंजाब और मध्यप्रदेश के किसानों को उपलब्ध सुविधाओं की तुलना करें जहां क्रमशः कृषि-उत्पादकता सबसे अधिक और सबसे कम है (अर्ध रेगिस्तानी राजस्थान को सबसे कम उत्पादन की दृष्टि से इस आकलन में छोड़ा जा सकता है)।

तालिका 145

पंजाब और मध्य प्रदेश में सघन खेती के लिए आपेक्षित न्यूनतम सुविधाओं की तुलना

	पंजाब	मध्य प्रदेश
1. प्रति हेक्टेयर खाद्यान्नों का उत्पादन (किलोग्राम), 1977-78	2400	699
*2. सिंचित भूमि की प्रतिशतता (सकल बोए हुए क्षेत्रफल में से सकल सिंचित क्षेत्र, 1977-78)	80.6	10.4
3. उर्वरकों का प्रति हेक्टेयर प्रयोग (पोषक तत्व एन+पी+के किलोग्राम में)		
···1977-78	72.43	7.45
···1978-79	91.38	9.21
**4. कुल उत्पादित बिजली की प्रतिशतता के रूप में कृषि के उपयोग में लाई गई बिजली	27.14	6.09
5. उपलब्ध संस्थागत संसाधनों से ऋण, प्रति की हेक्टेयर दर से (रुपए)	130	31
6. हेक्टेयरों में जोतों के औसत आकार (देखिए, कृषि जनगणना, 1970-71)	2.89	4.00
7. कृषि कामगारों की वर्तमान मजदूरी दर (रुपए प्रतिदिन, जून 1978 के अंत तक वार्षिक औसत)	9.86	5.24

* अनुमानित आंकड़ों पर आधारित

** 1976-77 से संबंधित आकड़े

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि जहां कहीं भी किसानों की आवश्यकताओं की अंशतः पूर्ति की गई है, वहां न केवल उत्पादकता में ही वृद्धि हुई है, जिसकी विश्व की सबसे अधिक उत्पादकता से भी तुलना की जा सकती है, अपितु भूमिहीन कामगारों की समस्या का भी संतोषजनक ढंग से निराकरण हुआ है। यहां यह बताना व्यर्थ ही है कि कृषीतर काम-धंधे भी उसी समय बढ़ जाएंगे जब और जहां कृषि-उत्पादन उत्पादकों की आवश्यकता से बेशी होगा। और भूमिहीन तथा सीमान्त किसानों में से बेरोजगार और कम रोजगार प्राप्त किसानों की समस्या का भी समाधान हो जायेगा—यदि छोटे अथवा कुटीर पैमाने पर कृषीतर रोजगार की व्यवस्था कर दी जाए।

इसके अलावा, प्रशासकीय दृष्टिकोण से यह पता चलता है कि विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां भावी कर्मचारी नियोक्ताओं की अपेक्षा अधिक होते हैं, कोई सरकार न्यूनतम मजदूरी की गारंटी करने वाले कानून का कार्यान्वयन नहीं करा सकती : इसमें निहित संख्या इतनी अधिक है और मजदूरी निर्धारित कराने में निहित कारक जटिल हैं।

मजदूरी की दर का हिसाब लगाते समय उस भूमि के क्षेत्रफल और उसकी गुणवत्ता को ध्यान में रखना चाहिए जो प्रत्येक किसान के पास है। न्याय की बात यह है कि मजदूरी उस किसान की वास्तविक आय के साथ परिवर्तित होनी चाहिए जो बदलते मौसम पर निर्भर करता है। इसके अलावा न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण का तब तक कोई अर्थ नहीं है जब तक कि इसके साथ-ही-साथ उन सभी व्यक्तियों को रोजगार न मिल जाए जो रोजगार की तलाश में हैं और इस रोजगार को निर्धारित मजदूरी की दर के अनुसार गारंटी की जानी चाहिए जैसा कि वस्तुओं की न्यूनतम समर्थित कीमतों के संबंध में होता है। ये वस्तुएं खाद्यान्न जैसी होती हैं और इनका उस समय तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक कि सरकार निर्धारित मूल्य पर सभी आपूर्तियों की खरीद न कर ले।

नगरों में औद्योगिक श्रम की अनुरूपता यहां लागू नहीं होती। कारखाने को चलाने के लिए मजदूर अनिवार्य होता है जबकि कृषि या गांव में मजदूर का होना उतना आवश्यक नहीं है : यदि औसत किसान को कानून द्वारा निर्धारित मजदूरी की दर निषेधात्मक लगती है तो वह अपने फार्म को बंद करने की अपेक्षा अपने ही परिवार के श्रम-संसाधनों पर अवलंबित होगा। वह अपने वृद्ध पिता, बच्चों और अपनी पत्नी के श्रम को अधिक पसंद करेगा ताकि मजदूरी अदा किए गए श्रम के अभाव को पूरा किया जा सके।

फसल-बीमा के संबंध में लेखक ने 1965 में ही केन्द्रीय सरकार को सावधान कर दिया था कि यद्यपि न्यूनतम कृषि मजदूरियों की योजना के प्रवर्तक नेक इरादों से प्रेरित थे फिर भी यह योजना व्यावहारिक साबित नहीं हुई और सदा की भांति इस बात पर भी कोई गौर नहीं किया गया।

महात्मा गांधी ने भारत की समस्याओं के प्रति वस्तुतः भारतीय दृष्टिकोण का सशक्त समर्थन किया है। इसके बावजूद अधिकांश भारतीय राजनीतिक नेता सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों और सिद्धान्तों से इतने अधिक मंत्रमुग्ध हैं कि उन्होंने बने-बनाए विदेशी आप्त वचनों को स्वीकार किया है। जब तक वे इस जादू से मुक्त नहीं हो जाते अथवा वैकल्पिक रूप में इन नेताओं के स्थान पर ऐसे नेता नहीं आ जाते जो विशिष्ट भारतीय समस्याओं और विकास से सुपरिचित हैं, उस समय तक हम केवल पूंजीवाद और समाजवाद के वैसे ही हल्के मिश्रण को बनाए रखेंगे जो गतिशील संवृद्धि की प्रक्रिया को प्रारंभ नहीं कर सकता।

हमारा देश अधिक समय से विदेशों से संस्थाओं, संसाधनों और यहां तक कि विचारों को उधार ले रहा है और अब आवश्यकता इस बात की है कि यह देखा जाए कि क्या इनसे कोई लाभ हुआ है। चीन की प्रवृत्ति आश्चर्यजनक रूप से भिन्न रही है। गत बीस वर्षों या इतने ही समय से चीन के नेता असंभव कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं ताकि विदेशी मॉडलों को समाप्त कर दिया जाए और वे अपने देश की समस्याओं के निराकरण के लिए देशी साधनों का पता लगा सकें। चीनवासियों ने अपने देश को भौतिक रूप से पुनः परिवर्तित कर दिया है और यह परिवर्तन ऐसे स्तर पर किया गया जैसा कि आधुनिक समय में कोई भी अन्य लोग ऐसा बृहद् प्रयास नहीं कर सके हैं। उन्होंने बंजर, पर्वतीय, बेकार भूमि में से करोड़ों एकड़ भूमि का सुधार कर लिया है और वनरोपण के बृहद् कार्यक्रमों के माध्यम से भूमि-कटाव को रोक दिया है तथा देश भर में भूमि का स्तर ऊंचा करके उसकी गुणवत्ता में सुधार किया है जिससे ऊपरी सतह की मिट्टी में परिवर्तन हुआ है तथा जल-निकासी और सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था की गई है। उन्होंने अपने देश का पुनर्निर्माण किया है और इस बात को सुनिश्चित किया है कि भविष्य में उन्हें व्यापक अकाल का कभी भी सामना न करना पड़े। पश्चिमी देशों में अब चीन की गणना विपदाग्रस्त देश के रूप में नहीं की जाती। भारत ने कृषि-उत्पादन के बढ़ाने का जो कार्यक्रम बनाया है, वह अपनी कार्यसीमा में सीमित है। यह कार्यक्रम स्थानीय उपलब्ध संसाधनों पर आधारित न होकर ऐसे निवेशों पर आधारित है जिनका या तो आयात करने की आवश्यकता है या आयात की गई प्रौद्योगिकी के आधार पर जिनके विनिर्माण की आवश्यकता है और जहां तक वन-रोपण के कार्यक्रम को महत्त्व दिए जाने की बात है वह इस तथ्य से स्पष्ट होगा कि भारत ऐसे स्तर पर वन काटने में लगा हुआ है जिससे कि इस शताब्दी के अंत तक भारी विपदा आ जाने का खतरा है।

भारत भी अपने गांवों में बेकार और अर्ध बेकार श्रमिकों की मिली-जुली ताक़त से अधिक सरलता से अपनी भूमि के स्तर को ऊंचा कर सकता था जिसके कारण कई प्रकार के सामान्य उद्देश्यों के लिए पूंजी-निर्माण किया जा सकता था : भूमि का समतल करना, सड़कों, कुओं, सिंचाई-बांधों और नहरों का निर्माण, बाढ़-बचाव और जल-निकासी के निर्माण-कार्य, कंटूर और अन्य मिट्टी तथा जल-संरक्षण की संरचनाएं, तालाबों का खोदना, ईंधन-संयंत्रों की स्थापना और सामुदायिक भवनों

के निर्माण के माध्यम से सुविधाओं में सुधार, ग्रामीण स्वच्छता और कई अन्य प्रकार से देहातों में पुनर्निर्माण। इस प्रकार की पूंजी-संरचना के लिए औद्योगिक रूप से बहुत कम मात्रा में उपस्करों की आवश्यकता होती है। वे अधिकतम श्रम और न्यूनतम पूंजी संसाधनों द्वारा निर्मित किए जा सकते हैं। वास्तव में अधिकांश मामलों में श्रम की अधिक आपूर्ति मशीनरी और अन्य पूंजी का उपयोग भी समाप्त कर देगी।

हमारी श्रम-शक्ति के पूरे से कुछ कम—यहां तक कि आधे से कुछ कम का उपयोग हो पाता है जिससे हमारे देश की अर्थव्यवस्था की गरीबी हालत अंशतः स्पष्ट होती है। आर्थिक विकास के क्षेत्र में हमारे प्रयत्नों का बहुत कम परिणाम होगा। यदि हम ग्रामीण श्रम-शक्ति को उत्पादनशील प्रयोजनों अथवा पूंजी-सृजन के लिए गतिशील बनाने में अयोग्य रहते हैं तो भारी उद्योग के क्षेत्र में अथवा अन्यत्र हुई पूरी सफलता व्यर्थ ही होगी।

13 मार्च, 1974 को 'टाइम्स आफ इंडिया' में एक लेख प्रकाशित हुआ। इस समाचार-पत्र के संपादक ने दुखी होकर कहा है कि "भारतीय राजनीति का कोई भी विद्यार्थी परियोजना के प्रति ग्राम-आधारित समान प्रबुद्ध व्यक्ति की अक्षमता पर ध्यान दिए हुए नहीं रह सकता अथवा वह इसके विपरीत दृष्टिकोण के प्रोत्साहन पर भी ध्यान देगा। अंशतः इसका कारण यह है कि वह स्वयं शहरी लोगों की भौतिक आकांक्षाओं में भागीदार होता है और अंशतः इसका कारण यह है कि वह शिक्षित नहीं होता और जिला मुख्यालय या अधिक से अधिक राज्य की राजधानियों के स्तर से बाहर उसकी पहचान नहीं हो पाती और अंशतः इसका कारण यह भी है कि वे उन काममार्गी बौद्धिक बुद्धिजीवियों और नेताओं से अपना बचाव करते हैं जिन्होंने सामंतशाही दृष्टिकोण और व्यवहार के कारण अपने सदस्यों की आलोचना की है।

गांधी जी ने अपने उद्देश्य की व्याख्या की है जो इस प्रकार है :

> "मैं भारत के गांवों को पुनर्जीवित करना चाहता हूं। आज हमारे गांव शहरों के केवल उपांग हैं। उनका अस्तित्व शहरों द्वारा उनका शोषण किए जाने के लिए है और गांव शहरों के दमन से आक्रांत हैं। यह स्थिति अस्वाभाविक है। जब शहर अपने कर्तव्य को समझें और वे गांवों को अपनी उस शक्ति और जीवन-निर्भरता के बदले में पर्याप्त क्षतिपूर्ति करें, जो उन्हें गांवों से मिली है और वे स्वार्थी होकर गांवों का शोषण बंद कर दें तभी शहर और गांव में स्वस्थ तथा नैतिक संबंध उभरेगा।"[5]

नौ वर्षों बाद अर्थात् 1946 में महात्मा गांधी ने एक विदेशी संवाददाता से साक्षात्कार के दौरान कहा था :

5. देखिए, 'हरिजन', 9 अक्टूबर, 1937.

"ब्रिटिश सत्ता ने शहरों के माध्यम से भारत का शोषण किया है; शहरों ने गांवों का शोषण किया है। गांवों का रक्त ही सीमेंट है जिसके द्वारा शहरों के भव्य भवनों का निर्माण हुआ है। मैं चाहता हूं कि वही रक्त शहरों की धमनियों से प्रवाहित होकर गांवों की रक्त-वाहिकाओं में पुनः प्रवाहित हो।"

परंतु महात्मा गांधी की इच्छा पूरी नहीं हुई है। इसके विपरीत, हुआ यह है कि गांवों का शोषण अब अधिक विधिवत्, संस्थागत और पूर्णरूप से किया जा रहा है।

जैसा कि पहले ही बता दिया गया है कि जब तक कृषि अथवा दस्तकारी की समृद्धि नहीं होगी तब तक गांवों में खुशहाली नहीं आयेगी और गांवों की खुशहाली तब तक नहीं आ सकेगी जब तक देश की शक्ति-संरचना में परिवर्तन नहीं होता। उस समय तक नगरों को लोग जाते रहेंगे और गांव का शोषण होता रहेगा जिसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं होगी तथा शहर और देहात में सांस्कृतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक खाई बराबर बढ़ती जाएगी।

कुछ उच्च, शिक्षित और स्पष्टवक्ताओं का ऐसा भाग है जिनमें से अधिकांश लोगों के हाथों में भारत का राजनीतिक और प्रशासकीय नेतृत्व है और अधिकांशतया वे विशाल आम जनता से बहुत दूर रहते हैं जिससे वे आम जनता में फैली गंदगी, अमानवीय जीवनयापन की दशाएं और असहनीय दुर्दशा से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। पूर्णतया अलग-अलग दुनिया में अनेक पीढ़ियों से रहने वाली दोनों प्रकार की जनता ऐसी हो चुकी हैं कि वे एक दूसरे के बारे में यह नहीं जानतीं कि उनमें से प्रत्येक के यहां क्या हो रहा है और ये दोनों वर्ग इस तरह विकसित हो गए हैं मानो वे जानवरों की दो जातियां हों। इस प्रकार सामाजिक वातावरण, परंपरा, संस्कृति और जीवन के तरीके को देखते हुए प्रारंभ में ही इन दोनों वर्गों के संचार में गहरी खाई है—एक ओर विशिष्ट और बुद्धिमान वर्ग है तो दूसरी ओर आम जनता है। स्वतंत्रता के बाद यह खाई अधिक चौड़ी हो गई है बजाय इसके कि यह खाई पाटी जा सकती। लेकिन जब तक इन दोनों विश्वों में भाषा, दर्शन, संकेत और जीवन के संस्करण संबंधी भेद-भाव को समाप्त नहीं किया जायेगा तब तक इन दोनों में परस्पर संचार नहीं होगा और इसलिए राष्ट्रीय समस्याओं की कोई समझ तथा उनका समाधान नहीं होगा।

लेखक का यह विश्वास है कि गांवों को पुनर्जीवित किया जाय और गांवों से शहरों को जाने वाले लोगों पर रोक लगा दी जाय। फिर भी लेखक उस आदर्शपूर्ण दृश्य को पुनः लाने का पक्षपाती नहीं है जिसके अनुसार सुखमय सामुदायिक ग्राम्य जीवन का स्वर्ण युग व्याप्त हो जाय। पाठक ने इस पुस्तक के दूसरे भाग के पहले अध्याय में यह देखा है कि गांधी जी ने ऐसे गांव का समर्थन किया है—यह गांव ऐसा होना चाहिए जो विज्ञान, यथा—बिजली-शक्ति और टेलीफोन अथवा मशीनों या बड़ी मशीनों से रहित समान के लाभ उठा सके। माइकेल लिप्टन ने अपनी पुस्तक 'ह्वाई द पूअर पीपुल स्टे पूअर' की भूमिका में कहा है जिसका पहले की संदर्भ दिया जा चुका है कि 'पारंपरिक ग्रामीण अर्थव्यवस्था, समाज और राज्य-व्यवस्था लगभग सदा ही आंतरिक रूप से असमान, शोषक और रमणीयता से बहुत दूर है : ये लक्षण साम्प्रदायिक पुनर्स्थापन के

प्रारंभिक उत्साह के समाप्त हो जाने के बाद पुनः दिखाई देने लगेंगे। महात्मा गांधी दस वर्षों से जिस गांव में बसे थे, उस गांव ने भी महात्मा गांधी के चामत्कारिक नेतृत्व के समाप्त हो जाने पर अपने सहचारी और समतावादी आदर्शों को खो दिया।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इन पृष्ठों में दर्शायी गयी गांवों की गंदगी, सुस्ती और गंदी आदतें समाप्त हो जाएंगी। महिलाएं स्वयं अपने दायित्वों को समझकर कर्तव्य निभाने लगेंगी। महाजन और बंधुआ मजदूर अतीत की बातें हो जाएंगे। वास्तव में, जमींदारी का किसी न किसी प्रकार से उन्मूलन करना पड़ेगा। इस प्रकार, जैसा कि पाठक ने पहले ही देखा है, जब लेखक कृषि-विकास पर जोर देता है तो उसका यह अर्थ नहीं है अथवा वह यह विश्वास नहीं करता कि भारत विकास करने की अपेक्षा केवल कृषि तक ही सीमित रहे। लेखक इस विश्वास का भी समर्थक नहीं है कि औद्योगिकी-करण अंततोगत्वा पतनोन्मुखी हो जाता है। यह दलील अंतिम है कि भूमि की उत्पादन क्षमता अथवा फार्म का उत्पादन इतना पर्याप्त नहीं है जो भारत की जनता के, और इस मामले के लिए अन्य गरीब देशों के लोगों को भी, कृषीतर कार्यकलापों में बड़े परिवर्तन किए बिना रहन-सहन के उच्च स्तर तक पहुंचा सके।

फिर भी, इसके अलावा बढ़ते हुए कृषि-उत्पादन के होते हुए भी एक अन्य कारक है जो अधिक सशक्त देहात के उभारने में अग्रणीय है अर्थात् शिक्षित देहाती युवक और उनके हितैषी आवश्यक इच्छा शक्ति और दृढ़ विचार को लेकर आगे बढ़े हैं। भारत और अन्य गरीब देशों से कहीं अलग यूरोप और उत्तरी अमरीका के विकास-शील देश के कामगार या जनता अपनी राजनीतिक शक्ति और आर्थिक कल्पना को ऊपर उठाने में प्रवृत्त हुए हैं लेकिन इन सभी प्रवृत्तियों की पूर्ण शर्तें भारत में विशेषकर नहीं हैं और आज अधिकांश विकासशील देशों में भी नहीं हैं। ब्रिटेन और अन्य पश्चिमी देशों की शहरी जनता से भिन्न भारत की ग्रामीण जनता ऐसे दबाव को संगठित करने की शक्ति नहीं रखती जो अकेले ही अपने राजनीतिक नेताओं की समतावादी वाक-पटुता को विशिष्ट वर्ग के दबाव के विरुद्ध वितरित करने वाले कार्य में बदल सके। भारत सरकार और शहरी विशिष्ट वर्ग के लोगों की प्रवृत्ति, जो उनका वास्तविक सहारा है, के विरुद्ध ग्रामीणों और गंदी बस्तियों में रहने वालों की ओर से विद्रोह करने की आवश्यकता होगी ताकि वर्तमान दशा को सुधारा जा सके। जब कभी लेखक विद्रोह की बात करता है तो उसका अभिप्राय यह है कि बिना किसी तोड़-फोड़-हिंसा के सर-कार पर ऐसा संगठित दबाव डाला जाए जो मतदान पेटियों से ही हो सकता है परंतु इतिहास यह बताता है कि अधिकांश अन्य देश ऐसे नहीं हैं जैसे कि भारत ने कभी अपने शासक या सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया है चाहे वह कितना ही अन्यायी या दमनकारी ही क्यों न हो और चाहे वह सरकार भी कैसी ही क्यों न हो क्योंकि भारतीय भाग्यवादी हैं और वे इस विश्व को मिथ्या मानते हैं।

इस प्रकार यही स्थिति यहां है, अर्थात् हमारी मानसिक प्रवृत्ति या राष्ट्रीय मनोविज्ञान के क्षेत्र में हमारे देश में राजनीतिक दलों की भूमिका अन्य किसी भी कार्य-कलाप की अपेक्षा अधिक संगत हो जाती है; यह उनका कर्तव्य है और यह केवल उन्हीं

का कर्तव्य है कि वे जनता को उनकी युगों पुरानी निद्रा से जगा सकें।

अब यह प्रश्न उठता है कि हमारे देश में कौन-सा राजनीतिक दल या नेता जनता को उनकी नींद से जगा सकेंगे ? स्पष्टतया ये वही हो सकते हैं जो अपनी मातृ-भूमि की परिस्थिति को समझते हों, जो यह समझते हों कि गांव और गंदी बस्तियों की क्या स्थिति है ये वे लोग नहीं हो सकते जिन्हें जन्म से ही सुख और वैभव मिला है और जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी गरीबी नहीं देखी है और उसका अनुभव नहीं किया है। ये वही नेता हैं जो ग्रामीण शिक्षित नवयुवकों को संगठित करेंगे ताकि वे अब अधिक समय तक अन्याय या शोषण को सहन न करें और यही वे नवयुवक हैं जो भारत की दो अलग-अलग 'दुनिया' की गहरी खाई को पाट देंगे और राजनीतिक तथा प्रशासन दोनों ही क्षेत्रों में विश्वसनीय भारतीय नेतृत्व के लिए नए प्रकार की व्यवस्था करेंगे। उनकी आंखें और कान अपने देश की पवित्र माटी के प्रति अनुकूल रहेंगे। ये वही लोग हैं जो भारत की समस्याओं का समाधान करेंगे। इस संबंध में ऐसे ही युवकों को डॉ० ई० एफ० सुमाकरे के परामर्श को सुनाना चाहिए :

> "द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व शायद चीन-निवासी ही ऐसे थे जिन्होंने इस बात की गणना की कि 30 किसानों के नाम से एक पुरुष अथवा स्त्री को विश्वविद्यालय में शिक्षा दिलाई जा सकती है। यदि उस व्यक्ति को विश्वविद्यालय के पांच वर्ष के पाठ्यक्रम को पूरा करना है तो इतनी अवधि में वह 150 किसान के कार्य-वर्षों के उत्पादन का उपभोग कर लेगा। यह किस प्रकार न्यायसंगत बनाया जा सकता है। ऐसा किसे अधिकार है जो पांच वर्षों तक किसी विश्व-विद्यालय में एक व्यक्ति को रखने के लिए किसान के 150 वर्षों के कार्य का विनियोजन करे ? ये ऐसे प्रश्न हैं जो हमें रुककर विचार करने और विभिन्न मार्गों में से सही मार्ग चुनने की ओर उन्मुख करते हैं : क्या शिक्षा किसी विशेष अधिकार के लिए पारपत्र है अथवा क्या शिक्षा कुछ ऐसी है जो लोग स्वयं ही महंत की शपथ की भांति अथवा जनता की सेवा करने का पवित्र दायित्व मानते हैं ? इनमें से पहला मार्ग शिक्षित युवक को बंबई के फैशनपरस्त क्षेत्र में ले जाता है जहां अन्य कई उच्च शिक्षा प्राप्त लोग पहले ही चले गए हैं और जहां वह परस्पर प्रशंसा करने वाले समाज में सम्मिलित हो सकता है और जहां कुछ "विशेष अधिकार प्राप्त व्यक्तियों के श्रमिक संघ" हैं जो इस बात पर ध्यान देते हैं कि उसके विशेष अधिकार उसके समकालीन उस विशाल जनता में नष्ट न कर दिए जाएं जो शिक्षित नहीं हो पायी है। यह एक मार्ग है। दूसरे मार्ग को भिन्न प्रकार से देखना होगा और जो एक अन्य गंतव्य की ओर उन्मुख करता है। यह मार्ग उसको उन लोगों के पास पुनः लौटा ले जाएगा जो आखिर-कार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसकी शिक्षा के लिए 150 किसान-कार्य-वर्षों का भुगतान कर चुके हैं; और उनके कार्य के लाभों का वह फायदा उठा चुका है अतः वह आदरपूर्वक ऐसे लोगों को कुछ न कुछ लौटाने की बात सोचने पर बाध्य हो जाएगा।"[6] (पृष्ठ 173)

6. 'स्माल इज ब्यूटीफुल', इस्फेयर बुक्स लिमिटेट, ग्रेज इन रोड, लंदन, 1977, पृष्ठ 173.

27

उपसंहार

हमने पूर्व पृष्ठों में अपने देश के नेताओं के कर्त्तव्य की बात कही है। हमारे देश के नेताओं का यह कर्त्तव्य है कि जनता को उनकी अधिक समय की निद्रा से उन्हें जगाए और शिक्षित नवयुवकों का यह दायित्व है और विशेषकर उन नवयुवकों का जो गांवों से आए हैं, कि वे इस आन्दोलन के सिपाही बनकर काम करें और महानता तथा समृद्धि के भव्य भवन की आधारशिला बनें जैसा कि कभी हमारा देश था और जिसे हम एक बार फिर शानदार देश बनाने का स्वप्न देख रहे हैं। लेकिन यह कोई आसान काम नहीं है क्योंकि इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारे लोगों की अभिवृत्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो, यथा—राष्ट्रीय स्तर पर मनोवैज्ञानिक परिवर्तन।[1]

मानसिक अभिवृत्ति

कतिपय लोगों का यह विचार है कि यदि भारत मुगल साम्राज्य के पतन के बाद फूट का शिकार न बना होता और प्रतिद्वन्द्वी दलों में विभाजित न हुआ होता, और बाद में भी ब्रिटिश सत्ता का गुलाम बनकर विदेशी आर्थिक शोषण से आक्रांत न होता, तो भारत पश्चिमी देशों के अनुरूप आर्थिक प्रगति कर लेता। लेकिन ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि किसी देश की राजनीतिक स्वत्रंतता और स्थायित्व उसकी आर्थिक प्रगति का एक कारण तो हो सकता है, और होता भी है लेकिन यह केवल एक मात्र कारण नहीं हो सकता।

एशिया में ईरान व थाइलैंड दो ऐसे देश हैं जहां राजनीतिक स्थायित्व भी रहा और वे यूरोपीय उपनिवेशवाद से भी बचे रहे। फिर भी, उनका गरीबी और अभाव

1. इस अध्याय की सामग्री विशेष रूप से लेखक की पुस्तक—'इण्डियाज पावर्टी एण्ड इट्स सोल्यूशन' एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1962 से ली गई है।

का स्तर भारत और उसके भूतपूर्व उपनिवेशी पड़ोसी देशों जैसा है। यही तर्क प्राकृतिक संसाधनों और/या पूंजी की उपलब्धता अथवा अनुपलब्धता के बारे में सत्य है। एक ओर इंगलैंड और दूसरी ओर आधुनिक अमरीका और कनाडा ने आर्थिक प्रगति प्राप्त कर ली है इसके विपरीत तीन शताब्दियों पूर्व स्पेन और उत्तरी अमरीका में उपनिवेशन के लिए यूरोपवासियों के आगमन से पूर्व वे आर्थिक प्रगति प्राप्त करने में असफल रहे—यद्यपि, शायद स्पेन सभी औपनिवेशिक साम्राज्यों में सबसे अधिक लोभी था और एक समय यूरोपीय इतिहास में उसने उपनिवेशों और आश्रित देशों का आर्थिक शोषण करके अद्वितीय समृद्धि का आनंद उठाया था। उत्तरी अमरीका के पास विशाल प्राकृतिक संसाधन थे। इसलिए अनुकूल राजनीतिक परिस्थितियों और प्रचुर प्राकृतिक संसाधनों अथवा प्रति व्यक्ति पूंजी की उपलब्धता के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसी चीजें हैं जो किसी देश को आर्थिक रूप से विकसित करने के लिए आवश्यक होती हैं और वह अपेक्षित गुणवत्ता का मानव कारक है। अंततोगत्वा हमारे आर्थिक पिछड़ेपन का कारण ब्रिटिश आधिपत्य में ही निहित नहीं है बावजूद इसके कि उन्होंने हमारे देश को क्षत-विक्षत किया और प्रेरणा की वंचना हम पर लाद दी। यह हमारे देश के भाग्य अथवा प्रकृति की कंजूसी में भी निहित नहीं है बल्कि यह आर्थिक पिछड़ापन केवल हमारे देशवासियों के अवगुणों के कारण है। डब्ल्यू० एस० वॉयटिंस्की ने कहा है :

> "आधुनिक देशों में समृद्धि का आधार पूंजी का संचयन नहीं है बल्कि यह समृद्धि जनता पर आधारित है, यथा,—मोटे तौर पर इसे श्रम-शक्ति कह सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी और जापान के अनुभव से इस बात की पुष्टि हो जाती है। इन देशों के शहर, बन्दरगाह, रेल-सड़कें, पुल, कारखाने और बिजलीघर आदि जो आधी शताब्दी के कठोर परिश्रम से बनाए गए थे और वे सब मलबे तथा राख में बदल दिए गए थे। खंडहरों में अर्धनग्न लोग ही बचे थे। उनके पास केवल उनके हाथ, दिमाग—सामूहिक रचनात्मक कार्य के लिए प्रशिक्षित—और मनोबल ही काफी था। चारित्रिक गुणों के कारण उन लोगों ने पुनर्निर्माण किया। एक दशाब्दी ही में वे आर्थिक रूप से इतने सशक्त हो गए जितने वे युद्धपूर्व भी नहीं थे।" (देखिए, 'इंडिया' द अवैकनिंग जाइन्ट, हारपर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क 1957, पृष्ठ 185-86)

यह लगभग स्वयं सिद्ध सत्य है कि, जबकि प्राकृतिक संसाधनों की गुणवत्ता और मात्रा ईश्वर या प्रकृति की देन हैं और ये लगभग मानवीय नियंत्रण के परे हैं फिर भी लोगों (संख्या सहित) की गुणवत्ता या उत्कृष्टता की मात्रा का निर्माण बहुत कुछ लोगों पर ही निर्भर करता है। जापान के उदाहरण से हमें यह विदित होगा कि अधिकांश मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों की मात्रा की कमी को काफी हद तक श्रमजीव जनसंख्या की गुणवत्ता से पूरा किया जा सकता है या उसकी कमी की क्षतिपूर्ति की जा सकती है। ऐतिहासिक कारकों के अलावा यह गुणवत्ता लोगों की सामाजिक और आर्थिक अभि-

वृत्तियों पर आधारित है और यह गुणवत्ता सरकार द्वारा उपलब्ध उनके स्वास्थ्य और शिक्षा तथा नेतृत्व पर भी आधारित है।

देश के पश्चिमी भागों में रहने वाले सिंधी, गुजराती, मारवाड़ी और पंजाबी समुदायों को छोड़कर और दूसरी ओर जापान के लोगों से कहीं भिन्न हमारे देश के लोग आरामतलब हैं और महत्वाकांक्षी नहीं हैं; वे अपने आप अपनी आर्थिक—सामाजिक स्थिति में सुधार करने के लिए स्वयं कठोर परिश्रम के लिए तैयार नहीं होते। वे नवीन विचारों और तरीकों को अपनाने, पहल करने ओर अस्थायी रूप से हार या हानि उठाने में भयभीत हो जाते हैं।

लोगों के धार्मिक विश्वास और परम्पराएं ही इस संबंध में सबसे अधिक संगत हैं जो जीवन के प्रति लोगों की अभिवृत्ति को निर्धारित करती हैं। सभी प्रकार के मानवीय क्रिया-कलाप, चाहे वे सामाजिक व आर्थिक हों, मस्तिष्क में जन्म लेते हैं। इसलिए समाज की आर्थिक दशाएं अन्ततोगत्वा समाज के सदस्यों की मानसिक अभिवृत्तियों अथवा उनकी प्रक्रियाओं में खोजी जा सकती हैं। इसी प्रकार किसी भी देश की समृद्धि या गरीबी उस देश के निवासियों की मानसिकता से जानी जा सकती है। यदि आज हम गरीब और आर्थिक रूप से पिछड़े समाज के सदस्य हैं तो इसका कारण हमारी दोषपूर्ण मानसिक अभिवृत्तियों में खोजा जा सकता है। उपसिद्धांत के रूप में यदि अब हम अपने देश को समृद्धिशाली बनाना चाहें तो हमें अपने देश के लागों की वर्तमान सामाजिक और आर्थिक अभिवृत्तियों में परिवर्तन करना होगा। केवल इसी परिवर्तन के बाद अर्थात् हम आर्थिक प्रगति की इच्छा अपने मन में जागृत करें और यह इच्छा ऐसी हो कि राष्ट्रों के बीच में हमारा भी वही स्थान हो जो कभी हमारे पुरखों का था तो हम इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन प्राप्त करना प्रारंभ कर देंगे अर्थात् हम आवश्यक कौशल अथवा ज्ञान और आवश्यक स्वास्थ्य अथवा शारीरिक बल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करेंगे और कठोर परिश्रम के लिए आवश्यक इच्छा-शक्ति जागृत करेंगे। यदि इस रूप में देखा जाए तो आर्थिक विकास अनन्य रूप से—शायद प्राथमिक रूप से भी केवल आर्थिक प्रगति ही नहीं है : इस आर्थिक प्रगति में भी गहन सांस्कृतिक और सामाजिक परिवर्तन निहित है। यह परिवर्तन मूल्यों, आदतों, ज्ञान, अभिवृत्तियों

2. तीन कारक हैं—ऐतिहाहिक, भौगोलिक और सामाजिक। इन तीन कारकों ने स्पष्ट रूप से इन समुदायों के जीवन के दृष्टिकोण को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वे देश के उन प्रदेशों में रहते हैं (क) जिन्होंने अधिकांशतया विदेशी आक्रमणों का सामना किया है, (ख) जहां तुलनात्मक रूप से कम वर्षा होती है और इसलिए अनेक दुर्भिक्षों से पीड़ित हुए हैं. और (ग) जहां देश में सबसे क्रांतिकारी सामाजिक धार्मिक आंदोलन, यथा—आर्यसमाज ने एक ऐसा स्वरूप बदला है तथा जनता के मस्तिष्क को अधिकांशतया प्रभावित किया है। विशेषकर पंजाब को एक अन्य संबंध में भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दो अंतिम सिक्ख गुरु तेगबहादुर और गोविंदसिंह और गुरु अर्जुनदेव ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने जनता को उद्यम की भावना से प्रेरित किया और अत्याचार सहित सभी कठिनाइयों का सामना करने के लिए उनकी इच्छाशक्ति को जागृत किया है।

सामाजिक आदर्श और महत्वाकांक्षाओं में निहित है। यह परिवर्तन अथवा सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक सुधार उस कीमत का एक भाग है जो हमें उस दलदल से निकलने के लिए चुकाना होगा जिसमें कि आज हम फंसे हुए हैं। पर्याप्त प्राकृतिक संसाधनों के अनुपात में मानव शक्ति या कृषि उपलब्धता की बेशी, ये अकेले ही आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं हैं जिनके बारे में पुस्तक में काफी कुछ कहा जा चुका है।

कई शताब्दियों तक हिन्दू धर्म ने, जैसाकि कतिपय संप्रदायों ने व्याख्या की है, वैयक्तिक और निष्क्रिय प्रकार के जीवन पर गहरा विश्वास व्यक्त किया है और भौतिक संसार की अवहेलना करने के लिए घोर तर्क प्रस्तुत किया है। इन लोगों के लिए विश्व कुछ भी नहीं है बल्कि **माया** है अर्थात् कपोल कल्पना है। इसलिए अन्य सांसारिकता पर विशेष बल दिया गया है और कठोर कार्य तथा सम्पत्ति के संचयन को बहुत ही कम ठोस प्रोत्साहन दिया गया है। सादा अथवा आडंबर हीन जीवन को निम्न कोटि के जीवन के साथ भ्रम में डाल दिया गया है।

हममें से अधिकांश लोग अपने भाग्य या किस्मत से संतुष्ट हो जाते हैं और वे यह विश्वास नहीं करते कि वे स्वयं ही अपने भाग्य के निर्माता हैं। अपने प्रयत्नों पर विश्वास करने के बजाय वे बाहर की सहायता की बाट जोहते हैं—चाहे वह सहायता परमात्मा से मिले अथवा सरकार से। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा समाज अत्यधिक भाग्यवादी हो गया है जिसके फलस्वरूप गरीबी बढ़ी है।

हम लोग काम से बचना चाहते हैं। यह स्थिति निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है। इस तालिका में 16 देशों की जनसंख्या की तुलना में कार्यकारी दल की प्रतिशतता दिखाई गई है।

तालिका 146

पुरुष-महिला के हिसाब से क्रियाशील जनसंख्या और कुल जनसंख्या में इनकी प्रतिशतता—चुनिंदा देश

(1971 अथवा आसपास)

	देश	आर्थिक रूप से क्रियाशील जनसंख्या('000)		
		पुरुष	महिलाएं	योग
1	2	3	4	5
1.	संयुक्त अरब गणराज्य	8728	539	9267
2.	कनाडा	(49.3)	(3.1)	(26.4)
		5760	3053	8813
		(53.3)	(28.4)	(40.9)
3.	अमरीका	58397	38520	96917
		(55.9)	(35)	(45.2)

(क्रमशः)

1 2	3	4	5
4. भारत	149146	31339	180,485
	(52.5)	(11.9)	(32.9)
5. जापान	33680	20100	53780
	(60.6)	(35.1)	(47.7)
6. पाकिस्तान	19595	1440	20035
	(52.1)	(4.3)	(59.5)
7. चेकोस्लोवाकिया	3870	3113	6983
	(55.4)	(42.3)	(48.7)
8. फ्रांस	14146	7988	22134
	(54.6)	(29.6)	(41.9)
9. जर्मनी (पश्चिमी)	17075	9535	26610
	(59.2)	(30.0)	(43.9)
10. पोलैंड	9424	8082	17507
	(57.8)	(46.7)	(52.0)
11. स्विटजरलैंड	1973	1022	2996
	(63.9)	(32.1)	(47.8)
12. अमरीका	16329	9387	25715
	(60.6)	(32.1)	(46.3)
13. यूगोस्लाविया	5686	3203	8890
	(56.4)	(30.7)	(43.3)
14. आस्ट्रेलिया	3640	1691	5330
	(56.8)	(26.7)	(41.8)
15. न्यूजीलैंड	862	415	1276
	(55.3)	(26.3)	(40.7)
16. रूस	57990	59037	117028
	(52.1)	(45.3)	(48.4)

स्रोत : अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (इयर बुक आफ लेबर स्टैटिस्टिक्स) 1977.

इस संबंध में राजनीतिक स्वतंत्रता के आगमन से किसी प्रकार का कोई अन्तर विदित नहीं होता। यह सही है कि हमारे देश के लोगों की वर्तमान गरीबी और इसके कारण प्राकृतिक आपदाओं का सामना करने की हमारी अक्षमता, जिसमें रोग और निरक्षरता शामिल हैं, काफी हद तक भाग्यवाद के लिए उत्तरदायी हैं, और पहल करने की कमी या यूं कहिए कि अपने ही प्रयत्नों द्वारा अपनी आर्थिक स्थितियों में

सुधार करने की अन्यमनस्कता है। हमारे धार्मिक विश्वासों और परंपराओं ने भी इस अभि-वृत्ति का पनपने देने में किसी अन्य कारक की अपेक्षा पहले ही काफी बड़ी भूमिका निभाई है।

भाग्यवाद को समाप्त करना ही होगा। हमारे समाज के नेताओं का इस संबंध में विशेष दायित्व है। लोगों को यह महसूस कराना होगा कि हमारा भौतिक वातावरण अपरिवर्तनीय कारक नहीं है, बल्कि यह एक व्यवस्थित संसार है जिसे परिवर्तित करके बनाया जा सकता है। भगवत्-कृपा का ऐसा विधान नहीं है कि हमारे बच्चे अभाव और दीनता में जीवित रहें अथवा नासमझ बने रहें। मानवीय इच्छा-शक्ति स्वतंत्र है और यदि कोई चाहे तो वह अपने वर्तमान जीवन के पुरुषार्थ से प्रारब्ध के प्रभावों को नकार सकता है या अधिकांशतया उन्हें नकार सकता है। कर्म-सिद्धान्त की शिक्षा के अन्तर्गत भाग्यवाद अथवा पूर्ण नियत्ववाद का कोई स्थान नहीं है। मानव केवल प्राणी ही नहीं है बल्कि परिस्थितियों का निर्माता भी है। मानवीय प्रयत्न द्वारा प्रगति का विचार हिन्दू विचारधारा के लिए केवल स्वदेशी ही नहीं है बल्कि वास्तव में उसकी शिक्षा का एक भाग है।

आर्य समाज के महान संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती सामाजिक युग-चेतना के प्रवर्तक थे और उन्होंने भारत की विचार धारा में काफी परिवर्तन किए। उन्होंने हिन्दुओं को यह याद दिलाया कि आत्मा अमर है और कर्म भाग्य का विधाता होता है। उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है कि, "एक सशक्त और क्रियाशील जीवन की मान्यता भाग्य के फैसले की स्वीकृति की अपेक्षा कहीं अधिक है। भाग्य कर्मों का फल है। कर्म भाग्य के निर्माता होते हैं। भलाई के कार्य उदासीन त्याग की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं ··· आत्मा स्वतंत्र कर्ता है और उसे जैसा भी पसंद हो वह मुक्त भाव से कर लेती है लेकिन यह बात परमात्मा की अनुकंपा पर ही आधारित है कि वह अपने कार्य के परिणाम का सुख भोगे।"

डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णनन ने इसी विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है:

> जीवन के खेल के पत्ते हमें दे दिए जाते हैं। हम स्वयं उनका चयन नहीं करते। वे हमारे पूर्व जन्म के कर्मों में खोजे जा सकते हैं लेकिन हम इच्छानुसार उनका उपयोग कर सकते हैं और हम जैसा चाहें वैसा जीवन बिता लेते हैं और जिस प्रकार हम खेलते हैं वैसे ही हम या तो जीत जाते हैं या हार जाते हैं; और इसमें स्वतंत्रता है।

धर्म के बाद रीति-रिवाज प्रत्येक समाज के लिए सबसे सशक्त एकाकी बल है। जनता का आचरण अथवा व्यवहार अधिकांशतया उसकी सामाजिक परंपरा या सांस्कृतिक विरासत से अनुशासित होता है और यह विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को बराबर मिलती रहती है अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रेषित होती है जिसमें सामाजिक रूप से संचित उन व्यक्तियों के अनुभव, कौशल, न्याय और विवेक होते हैं जो दिवंगत हो गए हैं।

फिर भी, हमारे रीति-रिवाज या सांस्कृतिक परंपराएं, जैसी कि अन्य देशों में भी होती हैं, न तो सभी अच्छी हैं और न सभी अमिश्रित रूप से अच्छी हैं। यद्यपि हठीली रूढ़िवादिता ने बहुमूल्य मूल्यों, यथा—चरित्र और आचरण की गुणवत्ता के परिरक्षण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया है। जिनसे हमारे समाज की शक्ति, स्थायित्व और सुरुचि प्राप्त हुई हैं अन्यथा समाज ही लुप्त हो जाता, फिर भी इसने परंपराओं को भी स्थायी बना दिया है जो इतना लाभकारी नहीं हैं। उनमें अंधविश्वास, बुरी आदतें और देहाती तरीके शामिल किए जाते हैं जो प्राय: कतिपय भटकी हुई पीढ़ियों की ही देन हैं अथवा ऐसे नियमों के परिणाम हैं जो किसी समय अच्छे थे लेकिन बाद में वे उपयुक्त नहीं रहे। इस प्रकार की परंपराओं ने जनता के जीवन की प्रक्रिया को काफी बोझिल बना दिया है और उसकी प्रगति को अवरुद्ध कर दिया है।

जाति-प्रथा

हमारी सांस्कृतिक विरासत का प्रभावशाली भाग, जाति-प्रथा एक ऐसा रिवाज अथवा संस्था है जो बहुत पुरानी पड़ गई है। आज जाति-प्रथा हिन्दू मस्तिष्क के अंत निर्मित लक्षणों में से एक लक्षण है और यह लक्षण कुछ हद तक भारतीय है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, जाति-प्रथा का प्रसार होता गया। प्राचीन उपदेश धुंधले पड़ते गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि समाज की चार जातियां जिनकी कि प्रारंभ में ही संकल्पना की गई थी और जो मानव के गुण, कार्य और अभिवृत्तियों पर आधारित थीं, सैकड़ों जातियों और हजारों उपजातियों में विभाजित हो गईं, जिनमें नव-दीक्षित व्यक्तियों हिन्दू आवरक में स्थान पा लिया। नई जातियों के साथ क्रियात्मक कौशल को मिलाने का तरीका सामाजिक सामंजस्य स्थापित करने का विलक्षण मार्ग था। इस प्रकार हिन्दू धर्म के अन्तर्गत नवागन्तुक की आर्थिक स्थिति आश्वस्त हो जाती थी और यह स्थिति उस समय तक इस क्षेत्र में बनी रही जब तक कि हिन्दू सामाजिक व्यवस्था का आर्थिक आधार स्थायी बना रहा। इस प्रथा ने कमजोर और असफल व्यक्ति के लिए सामाजिक बीमा जैसी सेवा की। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को बजाय इसके कि उसे भंवर में फेंक दिया जाए, समाज में अपने स्थान का ज्ञान था और उसके पास रहन-सहन का ऐसा साधन था जो उसके अपने पड़ोसी की प्रवृत्तियों की पकड़ अथवा अनधिकार हस्तक्षेप से सुरक्षित था। चार वर्गों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में कार्यों और शक्ति का विभाजन इस प्रकार किया गया था और एक वर्ग के हित अन्य वर्गों से इतने अलग थे कि समाज पर उनका नियंत्रण किसी भी वर्ग अथवा व्यक्तियों के दल के हाथों में एकत्रित नहीं हो सका जैसा कि आज कम्युनिस्ट अथवा शुद्ध पूंजीवादी समाज में हो जाता है। जाति-प्रथा समाज के संगठन के प्रयत्न को परिलक्षित करती है जिसके सिद्धान्त नियंत्रण, संतुलन, शक्तियों का विभाजन और सर्वसत्ता के विस्तार पर आधारित हैं।

परन्तु आज जाति-प्रथा भारतीय समाज को प्रत्यक्ष रूप से टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित कर रही है और यही जाति-प्रथा सामान्य आर्थिक प्रयत्न में बहुत बड़ी बाधा

बन गई है। जाति की सदस्यता जीवन पर्यन्त तक रहने और विवाह के लिए एक साथी का पैतृक चयन अपनी ही जाति के सदस्यों तक सीमित रह जाने और जाति से बाहर के लोगों द्वारा पकाए हुए भोजन का सेवन अथवा उनके साथ बैठकर भोजन करने पर प्रतिबंध लग जाने यहां तक कि उन्हें स्पर्श करने के भी प्रतिबंध लग जाने से जाति-प्रथा विभाजन और विखंडन के नियम पर आधारित जीवन के संगठन का आधार बनी हुई है जिसके संबंध में किंग्सले ने इस प्रकार कहा है : "जाति-प्रथा मानवीय इतिहास में परिचित सबसे सम्यक प्रयत्न है जिसने सामाजिक संबंधों के मार्गदर्शी नियम के रूप में नितांत असमानता प्रारंभ की है। ।"[3] ऐसे समाज में सामुदायिक परियोजनाएं बेतुका विरोधाभास हो जाती हैं जो सामुदायिक जीवन के संपूर्ण सिद्धान्त का बिल्कुल ही निषेध करती हैं अथवा यह समाज इन परियोजनाओं को एक बहुत ही संकीर्ण परिधि में सीमित कर देता है। एक प्रमुख चिंतक का उद्धरण देकर यह कहा जा सकता है, यह एक दुखद घटना ही है कि "सजीव और निर्जीव पूर्ण विश्व की एकता पर बल देने वाले भारत ने एक ऐसी सामाजिक पद्धति विकसित कर ली है जिसने उसके देशवासियों को अलग-अलग उपखंडों में बांट दिया है। जाति-प्रथा ने उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया है। यह डों जाति-प्रथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनन्त शताब्दियों से चली आ रही है और इसी प्रथा के कारण विदेशी अनुमान सफल हुए हैं जिसके फलस्वरूप भारत कमजोर और गरीब होता गया है।"

वंशानुगत व्यवसाय की संकल्पना क्रियाशील अर्थव्यवस्था से सम्बद्ध स्वतंत्र अवसर, मुक्त प्रतियोगिता और वैयक्तिक गतिशीलता के विचार से बिल्कुल ही भिन्न है। यह तथ्य है कि जापान भारत की अपेक्षा जाति-प्रथा में कम रूढ़िवादी रहा। इसके साथ ही साथ यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जापान अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से औद्योगीकृत हो सका। भारत में मनुष्य की जाति अपरिवर्तनीय है। यह जाति-प्रथा व्यक्ति को निश्चित सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करती है अथवा आरोपित करती है और वस्तुतः कठिन परिश्रम द्वारा उन्नति की संभावनाओं को कम करती है। **एक मनुष्य अपना धर्म बदल सकता है लेकिन अपनी जाति नहीं बदल सकता।**

इसके अलावा जाति-प्रथा प्रत्येक हिन्दू मस्तिष्क में बचपन से ही ऊंच-नीच, उत्कृष्टता-निकृष्टता के बीज बो देती है और कतिपय जातियों के सदस्य होने का यदि किसी को लाभ है तो अन्य जातियों के सदस्य होने से उसे हानि उठानी पड़ती है। जाति-प्रथा श्रम की प्रतिष्ठा की संकल्पना के विरुद्ध कार्य करती है। शारीरिक श्रम को अधम समझा जाता है : यह अधिक सम्मानजनक स्थिति है। पर्यवेक्षण के अलावा कुछ भी न किया जाय और दूसरे लोगों को कठिन परिश्रम करने दिया जाय। अंग्रेजी में एक लोकोक्ति है कि 'जिसके पास खेती है, उसे ही हल चलाना पड़ता है और इससे संबंधित अन्य शारीरिक कार्य करने करने पड़ते है।' लेकिन भारत के कतिपय

3. 'पॉपुलेशन इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान', प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जरसी, अमरीका, 1951, पृष्ठ 170.

भागों में कुछ ऐसी ऊंची जातियां हैं जिनके सदस्य स्वयं हल भी नहीं चलाएंगे और उनकी स्त्रियां भी कभी दूध नहीं दुहेंगी। जो व्यक्ति बिल्कुल भी काम नहीं करते अथवा तुलनात्मक रूप से कम काम करते हैं वे सामाजिक स्तर में सबसे ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं और जो व्यक्ति अपेक्षाकृत सबसे अधिक काम करते हैं वे सामाजिक स्तर में निचला स्थान प्राप्त करते हैं। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि यद्यपि हमें अपने पूर्वजों से बहुत कुछ सीखने को मिला है, फिर भी भारत इतना गरीब है।

यह जाति-प्रथा ही हमारी राजनीतिक दासता का मूल कारण है। जाति-प्रथा से आक्रान्त समाज की कमजोरी विशाल क्षेत्र में राजनीतिक एकता को स्थापित नहीं करा पाती और वास्तव में किसी आक्रमण के समय हमें हतोत्साहित कर देती है इसलिए भारत को शायद ही किसी विदेशी ने सैन्य-शक्ति का सहारा लेकर देश जीतने के विचार की आवश्यकता महसूस की हो। उसने भारत को हाथ-पांव से सदैव बंधे हुए पाया है और भारतीय किसी भी विदेशी आक्रमण का बिना किसी संघर्ष अथवा थोड़े ही संघर्ष से स्वागत करने के लिए तैयार रहे हैं। भारत को किसी भी विदेशी से द्वेष नहीं रहा है क्योंकि उनमें देशभक्ति अथवा राष्ट्रीय एकता की कोई समझ नहीं रही है। कोई भी भारतीय नहीं था और इसलिए तर्क-सम्मत ढंग से कहा जाय तो कोई विदेशी नहीं था। देशभक्ति के विचार उन देशवासियों अथवा व्यक्तियों की पूर्व-कल्पना करा देते हैं जो किसी ऐसे समुदाय में पाये गए हैं जिसे एक बड़ा परिवार कह सकते हैं। अतः उनके लिए यह स्वाभाविक होता है कि वे अपने देश को जन्मभूमि अथवा जननी मानें। परन्तु यदि किसी समुदाय में हजारों जातियों और उपजातियों के लोग हैं जिनके कोई सामान्य तथा परस्पर जुड़े हित अथवा महत्वाकांक्षाएं नहीं हैं और कभी भी वे सामाजिक स्तर पर नहीं मिलते तो देशभक्ति अथवा देशप्रेम ऐसे समाज में सरलता से जड़ नहीं जमा सकता।

यह सही है कि राष्ट्रीयता का प्रमुख लक्षण यह है कि उसका समान धर्म हो और उसके द्वारा उत्पन्न भाईचारे तथा सामान्य हित की समझ हो। सारे देश में हिंदूवाद फैला हुआ था और इसी हिंदूवाद में ऐसे पोषक तत्त्व थे जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता का उदय हो सकता था। और विदेशी आक्रमण एक के बाद दूसरे होते रहे और यह क्रम शताब्दियों तक बना रहा। इन सभी से मुख्य रूप से यह दबाव आया जिससे संभवतया देशभक्ति के इस बीज का विकास हो सकता था। परन्तु ये आशाएं झुठला दी गईं : हिन्दूवाद देशभक्ति में भी परिवर्तित नहीं हो सका और किसी भी आक्रामक के विरुद्ध संगठित भारत की भावना उत्पन्न करने में असफल रहा जिस का कारण यह है कि भारत को जाति-प्रथा ने बहुत कमजोर बना दिया था।

मुगलों ने बिना किन्हीं स्पष्ट साधनों के भारत को जीत लिया। बाबर भारत में घुस आया और उसके पीछे कोई भी सशक्त राष्ट्र नहीं था अथवा वह किसी सशक्त राज्य के संगठन पर ही आश्रित नहीं था; फिर भी वह एक आश्चर्य पैदा करने में सफल रहा अर्थात उसने मुगल साम्राज्य की नींव डाली जो दो शताब्दियों तक बनी रही। यह चमत्कार तभी संभव था क्योंकि इस देश में रहने वाले करोड़ों

हिन्दुओं ने एक राष्ट्र के रूप में मिल-जुलकर विचार करने की आदत का विकास नहीं किया था। हिन्दू जो मात्र व्यक्तियों के जनसमूह अथवा दलों के समूह के रूप में थे वे आपस में किसी सामान्य भावना अथवा हित से बंधे नहीं थे और अपने पूर्व आक्रमणकारियों मुहम्मद गजनवी से लेकर बाद के आक्रमणकारियों तक केवल इसीलिए परास्त होते रहे क्योंकि उन्हें उदासीन बने रहने अथवा आपस में लड़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाता रहा।

यही कहानी ब्रिटेन की विजय की दशा में भी दोहराई गयी जब मुगल साम्राज्य के पतन के बाद भारत की राजसत्ता धूलि-धूसरित हो चुकी थी। उस समय देश के अधिकांश भाग को मराठों ने हथिया लिया। यह उनकी शक्ति में था कि वे भारत को एकता के सूत्र में बांध लें परन्तु वे इसलिए असफल रह गए क्योंकि उन्होंने देश के समग्र हितों के समक्ष अपने संकीर्ण हितों को प्रमुख समझा। एक भारत का विचार उनके मस्तिष्क में नहीं आया। केवल इनना ही नहीं, वे एक संगठित मराठा राज्य बना लेने में भी असफल रहे और वे शीघ्र ही पांच उपराज्यों में विभाजित हो गए जिनका आधार अलग जाति या उपजाति थी। मराठा सशक्त राज्य बनाने में क्यों असफल रहे इस प्रश्न के उत्तर में सर यदुनाथ सरकार ने हिन्दू जाति-प्रथा को एक मुख्य कारण बताया है। यद्यपि शिवाजी का अपना आचरण धर्म के मामलों में बहुत उदार था फिर भी उनकी विजय और बीजाराव प्रथम की विजय ने हिन्दू रूढ़िवादिता के पक्ष में प्रतिक्रिया पैदा कर दी जिससे वर्ग-विभेद और प्रतिदिन के धार्मिक समारोह की शुद्धता बढ़ गई :

> "18वीं शताब्दी के मराठों ने अपनी स्वतंत्रता से उत्पन्न की गई सुरक्षा, शक्ति और सम्पत्ति के परिप्रेक्ष्य में मुस्लिम अत्याचार के पुराने तथ्य भुला दिये; उनकी सामाजिक श्रेणियां एक दूसरे के विरुद्ध हो गईं। साह्यादारी पर्वत श्रेणियों के पूर्व में रहने वाले ब्राह्मणों ने पश्चिम में रहने वालों को हिकारत की नजर से देखा और पहाड़ियों में रहने वाले व्यक्तियों ने मैदान में रहने वाले अपने भाइयों की उपेक्षा की क्योंकि ऐसा करने में उन्हें दंडित किए जाने का कोई भय नहीं था। राज्य का प्रमुख पेशवा ब्राह्मण था। उसके ब्राह्मण नेता ही उसकी उपेक्षा करते थे क्योंकि वे जाति की अन्य शाखाओं के थे जिसका कारण यह था कि पहले पेशवा के परदादा कभी समाज में छोटी जाति के थें जबकि देशस्थ ब्राह्मणों के परदादा के परदादा उच्च कुलीन थे। जिस समय चितपावन ब्राह्मण देशस्थ ब्राह्मणों के साथ सामाजिक युद्ध कर रहे थे उस समय ब्राह्मण मंत्रियों और गवर्नरों तथा कायस्थ सचिवों के बीच में तीखा द्वेष उभरने लगा : इस स्थिति का परिचय हमें शिवाजी के शासनकाल से ही विदित होता है।"[4]

4. 'शिवाजी एण्ड हिज टाइम्स', यदुनाथ सरकार (तेरहवां संस्करण), पृष्ठ 374-75, एम०सी० सरकार एण्ड जेन्त लिमिटेड, कलकत्ता द्वारा 1952 में प्रकाशित।

हिन्दू अथवा भारतीय समाज के इसी विभाजन से असंख्य टुकड़े हो गए और अंग्रेज जाति में कोई ऐसी श्रेष्ठता भी न थी फिर भी उनके लिए भारत में साम्राज्य स्थापित करना संभव हो गया। इंगलैंड ने भारत को जीत लिया और भारत पर शासन किया। यह शासन उन्होंने भारतीय सैन्यदल की सहायता से किया और इस सैन्यदल को भारतीय राशि का भुगतान किया। 1773 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास 54,000 सिपाही थे जिनमें से 9,000 अंग्रेज थे : 1818 में यह संख्या क्रमशः 1,60,000 और 25,000 हो गई और 1857 में 2,80,000 और 45,000 हो गई। 'भारतीय' शब्द भ्रामक था। वे या तो हिन्दू थे या मुसलमान थे। वास्तव में उनमें से कोई भी हिन्दू नहीं था; ये सैनिक दल इस नाम से पहचाने जाते थे अथवा पहचाने जा सकते थे परन्तु इनमें भावनात्मक बंधन बहुत कम था या बिल्कुल ही नहीं था जिससे कि जो उन्हें एक दूसरे को बांध सकें; वे कुलीन राजपूत, मराठा-जाट या सिख थे।

यही रूढ़िवादी जाति-प्रथा ऐसी थी जिसने ऊंच-नीच के विचार पैदा कर दिये थे जिसके फलस्वरूप लाखों हिन्दू अन्य धर्मों में परिवर्तित हो गए जबकि यह सत्य है कि अन्य धर्मों के आध्यात्मिक उपदेश हिन्दू धर्म के उपदेशों से किसी भी दशा में श्रेष्ठ नहीं थे। यह केवल मानवीय प्रकृति है कि तिरस्कृत जातियों के सदस्यों ने उन अन्यायों और अत्याचारों का विरोध किया जिनसे व्यावहारिक जीवन में उन्हें सार्वजनिक तिरस्कार का तीखापन मिला था। उन्होंने इसका प्रतिकार करने के लिए प्रतिशोध की भावना से गिरजाघर जाकर अन्य धार्मिक विश्वासों का सहारा लिया। इस परिस्थिति की विडम्बना इस तथ्य में निहित है कि जिन मनुष्यों को अपने जन्म के कारण अपने ही सहधर्मियों से तिरस्कृत होना पड़ा था, उन्हें नए सहधर्मियों ने बराबर की मान्यता उसी समय प्रदान की जैसे ही उन्होंने अपने बाप-दादाओं के धर्म का परित्याग कर दिया।

फिर भी जाति-प्रथा के कारण ही भारत के विभिन्न धार्मिक समूह सामाजिक और राजनीतिक रूप से एक दूसरे के समीप नहीं आ सके और एक सुदृढ़ समाज का निर्माण नहीं हो सका। इस जाति-प्रथा ने अन्ततोगत्वा देश का विभाजन ही किया है। जब इस प्रथा से एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से अलग रहता है तो क्या यह संभव हो सकता है कि समुदाय के रूप में हिन्दू गैर हिन्दूओं को आम सांस्कृतिक और सामाजिक कार्यों में सहन कर सकें अथवा प्रोत्साहित कर सकें। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से विश्वसनीय प्रतिज्ञापन के बावजूद मुसलमानों को यह आशंका बनी रही कि ब्रिटिश लोगों के चले जाने के बाद उन्हें हिन्दू बहुमत से सही व्यवहार नहीं मिलेगा क्योंकि हिन्दू बहुमत अपने ही सहधर्मियों के साथ बराबर का व्यवहार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद ने ब्रिटिश जनसमुदाय के प्रति आम निंदा को प्रोत्साहित किया फिर भी उसने अपने आप में ही सदैव संघर्ष के चिह्न देखे हैं।

9 अगस्त, 1966 को लेखक को श्रीमती इन्दिरा गांधी को एक पत्र लिखने का अवसर प्राप्त हुआ जिसमें यह कहा गया है :

पंजाब से संबंधित 1931 की जनगणना के आंकड़ों के संदर्भ से यह विदित होता है कि "1881 में इस प्रांत के हिन्दुओं की संख्या 43.8 प्रतिशत से घटकर 30.2 प्रतिशत हो गई जबकि सिक्खों की संख्या 8.2 प्रतिशत से बढ़कर 14.3 प्रतिशत हो गई और मुसलमानों की संख्या 40.6 प्रतिशत से बढ़कर 52.4 प्रतिशत हो गई है।"

जनसंख्या रिपोर्ट के अनुसार इसका कारण जाट और सैनी जैसी कृषक जन जातियों और चमार और चुहरा जैसी अछूत समझी जाने वाली जातियों के प्रति उच्च वर्ण के हिन्दुओं की अभिवृत्ति में निहित है। 'जाटों' का सबसे बड़ा समुदाय था और उन्होंने अपनी प्रतिक्रिया बता दी क्योंकि तथ्य यह है कि पंजाब को 'जाटों का घर' माना जाता है। यह प्रतिक्रिया निम्नांकित तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 147

जाट जनसंख्या

(हजारों में)

धर्म	1881	1931		1881 से 1931 तक न्यूनाधिकता	
		वास्तविक	यह मानकर कि धर्म-परिवर्तन नहीं किया गया था	वास्तविक	यह मानकर कि धर्म-परिवर्तन नहीं किया गया था
हिन्दू	1445	992	2076	— 453	—1084
सिख	1123	2133	1614	+1010	+ 519
मुस्लिम	1655	2941	2378	+1286	+ 563

इन जाटों को यह पता लगा कि वे अपने ही राजपूत ब्राह्मण और खत्री भाइयों द्वारा हिकारत की नजर से देखे जा रहे हैं और उनके लिए यह संभव नहीं है कि वे अपना जाति परिवर्तन कर सकें तो उसके लिए यह अवश्य संभव है कि वे अपना धर्म-परिवर्तन कर दें। बहादुर सिपाहियों और ताकतवर किसानों का यह संवेदनशील समुदाय केन्द्रीय पंजाब में सिक्ख धर्म और पश्चिमी पंजाब में इस्लाम धर्म की ओर प्रवृत्त हो गया।

इसलिए गत पचास वर्षों की अवधि में हिन्दू जाटों की जनसंख्या बढ़ने के बजाय घटकर 31.4 प्रतिशत रह गई है और सिक्ख जाटों तथा मुस्लिम जाटों की

संख्या बढ़कर क्रमशः 90.0 प्रतिशत और 77.8 प्रतिशत हो गई है । इस प्रकार 1881-1931 की अवधि में हिन्दू समाज को हिन्दू जाटों के धर्म-परिवर्तन के कारण 10,84,000 व्यक्तियों की हानि हुई है । (लेखक यहां यह भी कहना चाहेगा कि चूंकि सिक्ख पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं जो हिन्दू धर्म का मूल दर्शन है, इसलिए वह उन्हें हिन्दुओं से अलग नहीं मानता ।)

अन्य हिन्दू समुदायों ने भी जाटों के समान अपनी प्रतिक्रिया दिखाई लेकिन अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि विशेषकर ब्राह्मण और क्षत्रिय जो पंजाब के पश्चिमी भागों में अपने घर छोड़कर भाग गए और दिल्ली तथा उत्तरी भारत के अन्य नगरों में जा बसे वे आज भी जाटों तथा अन्य पिछड़ी जातियों के प्रति तिरस्कार से बात करते हैं और उनसे वैसा ही व्यवहार करते हैं : जाटों और पिछड़ी जातियों की शक्ति-संरचना में कोई अधिकार नहीं है, यह बात सर्वविदित है । ऊंची जाति के हिन्दुओं ने कोई भी शिक्षा नहीं ली है और शायद वे कोई शिक्षा लेंगे भी नहीं ।

पंजाब में जिस प्रकार के विकास हुए, लगभग उन्हीं कारणों से बंगाल में भी उथल-पुथल हुई । वहां 1871 में हिन्दू और मुसलमान जनसंख्या लगभग समान थी । छः दशकों की अवधि में 1931 तक राज्य की कुल जनसंख्या में हिन्दू घटकर 43.5 प्रतिशत रह गए और मुसलमान बढ़कर 54.4 प्रतिशत हो गए । इसका परिणाम क्या हुआ ? विज्ञान और साहित्य के प्रकांड विद्वानों के सभी ज्ञान और राजनीतिक क्रांतिकारियों के समस्त बलिदान जो कि बंगाल ने अंग्रेजी शासन के दौरान दिखाए थे वे सब क्षीण और जातिग्रस्त समाज में, जिसके वे अंग थे, निरर्थक हो गए । 1947 में देश का विभाजन हुआ और बाद के वर्षों में इन्हें और इनके बच्चों को पूर्वी बंगाल में स्थित अपने पूर्वजों के घरों और निवास स्थानों से भागकर अपने जीवन और सम्मान को बचाने के लिए पश्चिम बंगाल और आसाम में शरण लेनी पड़ी ।

आज के हिसाब में 1961-71 की अवधि के दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों की जनसंख्या बढ़कर क्रमशः 23.11 और 30.84 प्रतिशत हो गई हैं । ईसाइयों की जनसंख्या भी लगभग मुसलमानों की जनसंख्या की दर के बराबर बढ़ी है । जन्म-दर की असमानता वृद्धि की दरों की असमानता की एक कारक हो सकती है, विशेषकर जहां तक मुसलमानों का संबंध है लेकिन हिन्दुओं की सामाजिक पद्धति से इसका प्रमुख कारण कुछ और ही है ।

पाकिस्तान बनने के पूर्व इस प्रकार के संकेत थे कि हिन्दू अपनी अवनति के प्रति सजग हैं । उन्होंने अपने धर्म की ओर से सक्रिय भाग लेना प्रारंभ कर दिया था । सामाजिक सुधार आन्दोलनों,यथा—आर्य समाज ने हिन्दूधर्म को अपने हितों की साधना में आधुनिक दृष्टिकोण प्रदान किया था । यह आशा की जाती थी कि देश के विभाजन का तथा जिसने भारतीय सीमाओं पर दो बार अर्थात् एक बार 1947 में और दूसरी बार 1972 में दो प्रमुख मुस्लिम राज्यों को जन्म दिया, निस्संदेह जाति-पांति तोड़ने में गति ला सकेगा और यदि यह तथ्य कुछ भी न करे तो कम से कम हिन्दू धर्म तेजी

से एकता की ओर बढ़ने में अधिक संगठित होगा जैसा कि गत वर्षों में कभी नहीं हुआ था। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ : आर्य समाज जैसे संगठन और स्वामी दयानन्द जैसे अन्य व्यक्तियों की उत्साहवर्धक सुधार-भावना जाति-प्रथा की चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो गई। इन्होंने अपनी शक्ति कम कर डाली और जो वास्तविक समस्या थी वह वहीं की वहीं बनी रही। वास्तव में स्वार्थी राजनीतिज्ञों के कारण जाति-वाद ने अधिक भयंकर रूप धारण कर लिया है और पहले से अधिक सामाजिक कटुता पैदा की है जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू जनसंख्या उत्तरोत्तर कम हुई है और कम होती जा रही है।

जब इस पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण मुद्रणाधीन था तब 13 अप्रैल, 1981 के 'इण्डियन एक्सप्रेस', नई दिल्ली में तेन्कासी (जिला तिरुनवेली) के संवाददाता द्वारा भेजी गई निम्नलिखित सूचना प्रकाशित हुई थी :

> मीनाक्षीपुरम को अब ग्रामीणों के बहुमत से रहमत नगर के नाम से पुकारा जाने लगा है। यह पोथी पंचायत का खेड़ा है और तेन्कासी से लगभग 10 किलोमीटर दूर है।
>
> यहां यकायक आम धर्म-परिवर्तन हुआ है। 150 हिन्दू हरिजन परिवारों ने अपना धर्म परिवर्तन कर लिया है अर्थात लगभग 1,000 लोग इस्लाम के प्रति वफादार हो गए हैं। अन्य 50 परिवार कोडाई मन्दिर के वार्षिक समा-रोहों के बाद अप्रैल के अन्त तक इस्लाम धर्म को अपना लेंगे। यह स्पष्ट है कि ये लोग अपने पुराने देवताओं के प्रति अपना कोई भी भाग शेष नहीं छोड़ना चाहते।
>
> 35 वर्षीय श्री थांगराज, जिन्होंने मैडिकल कॉलिज में बीच में ही पढ़ाई छोड़ दी थी, उन्होंने कहा कि पुलिस के जुल्म ने उनका जीवन असहनीय कर दिया है। उन्होंने बताया कि "हरिजन केवल पापमय शब्द है। यद्यपि हमारी आर्थिक प्रतिष्ठा बढ़ी है लेकिन हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा से हमें वंचित कर दिया गया है।"
>
> 19 फरवरी को मीनाक्षीपुरम् में अधिक धूमधाम और शान-शौकत से एक उत्सव का आयोजन किया गया। लगभग 4,000 मुसलमान अपने परिवारों सहित पड़ोसी तेन्कासी, कडायानल्लूर, वेडाकारि, वावानगरम् और अन्य स्थानों से धर्म-परिवर्तन के उत्सव में आकर शामिल हुए। श्री शाहुल हमीद, विधानसभा सदस्य, कडायानल्लूर ने इसमें सक्रिय भाग लिया। इस्लाम धर्म के नेताओं ने भी इसमें अधिक संख्या में भाग लिया।
>
> मीनाक्षीपुरम् के हरिजन अपने जिले के अन्य हरिजनों से भिन्न हैं। उनमें से 40 प्रतिशत से अधिक लोग शिक्षित हैं और उनमें से अधिकांश पर्याप्त धनी हैं। उनमें से 90 प्रतिशत लोग मेम्कारी के समीप थिरूवदुथुरै मट्ट भूमि में रजिस्टर्ड खेती करने वाले किसान हैं।

इनमें से कतिपय ग्रामीण सरकारी सेवा में अच्छे पदों पर काम कर रहे हैं। हरिजनों ने अपनी सुधरी हुई आर्थिक प्रतिष्ठा और साक्षरता की वृद्धि की दृष्टि से अन्य समुदायों के साथ विशेषकर थेवारों से बराबर की प्रतिष्ठा की मांग की है। परन्तु उनके साथ बुरा व्यवहार किया गया। उनका यह कहना है कि उनको होटलों में कॉफी तथा चाय देने के लिए अलग गिलासों का उपयोग किया गया है। उन्हें बसों में बैठने की अनुमति नहीं दी गई है जबकि अन्य ऊंची जाति के हिन्दू उस बस में सवार थे। उनका समाज से बहिष्कार किया गया और उन्हें सताया गया।

कुछ व्यक्ति इस निष्कर्ष पर आ गए कि धर्म-परिवर्तन से उन्हें राहत मिलेगी। इसी समय मेम्कारी में दो व्यक्तियों की हत्या कर दी गई। मृतक थेवर थे और हरिजनों को इस अपराध के लिए दोषी ठहराया गया। इसी समय जाली नोटों के छापने की मशीन का पता लगने से स्थिति और गंभीर हो गई। शेनकोहै के थेवर पुलिस इन्स्पेक्टर ने जांच-पड़ताल शुरू की और यह कहा जाता है कि मीनाक्षीपुरम् के कतिपय हरिजन परिवारों को सताया गया और कतिपय हरिजनों को गैर कानूनी ढंग से एक महीने से अधिक समय तक हिरासत में रखा गया।

पुलिस के व्यवहार के प्रति आक्रोश दिखाते हुए तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए हरिजन इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गए।

लेखक इस स्थिति के बारे में मुस्लिम अथवा अन्य किसी समुदाय को, तनिक भी दोषी नहीं ठहराना चाहता : हिन्दू स्वयं अपनी करनी के लिए उत्तरदायी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने मृत्यु-इच्छा पैदा कर ली है और उन्हें उनकी इस उत्कट इच्छा की पूर्ति से संभवतया कोई नहीं बचा सकता अर्थात् उन्हें आत्महत्या से कोई नहीं बचा सकता।

यदि आधी दर्जन जातियां अथवा इतनी ही जातियां होतीं और उन सभी में बराबर-बराबर सदस्य होते तो शायद जाति-प्रथा की संस्था के उन्मूलन में इतनी कठिनाई नहीं होती। लेकिन अब सैंकड़ों और हज़ारों जातियां अथवा उपजातियां हैं और उनके लोगों में तीखे अन्तर विद्यमान हैं और प्रायः एक ही जाति के सदस्यों के बीच में भी अन्तर है। उदाहरण के लिए, विभिन्न अलग-अलग अनुसूचित जातियों में भी सगोत्रता अथवा समता का कोई अर्थ नहीं है। इन्होंने भी जाति-प्रथा के कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बाधाओं को समान रूप से भोगा है। एक बार महात्मा गांधी ने कहा था : "अछूतों में सभी प्रकार की श्रेणियों के लोग आपस में अछूत ही हैं। इनमें से प्रत्येक उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के लोगों को हेय समझते हैं जैसा कि कुलीन हिन्दू जाति के लोगों ने अछूतों को नीच मानकर वातावरण को ही दूषित कर

दिया है ''[5]

जाति-प्रथा की गहरी मनोवैज्ञानिक जड़ें होती हैं : एक मराठी कवि ने हिन्दू समाज के बारे में लिखा है—''हिन्दू लोग ऊपर से लात खाकर अपने शीश नवाते हैं और साथ ही साथ अपने से निम्न वर्ग के लोगों को लात मार देते हैं और वे कभी नहीं सोचते कि उन्हें ऊपर से लात मारने वालों का प्रतिरोध करना है अथवा दूसरों से बचना है।'' पद्यानुक्रम जाति-पद्धति में विद्यमान यह मनोवैज्ञानिक प्रतिकार संतुलन के कारण ही अभी तक बना हुआ है। हालांकि इसे कई आक्रमणों का सामना करना पड़ा है और जिसके कारण हमारे देश में अनेक घोर विपत्तियां आई हैं।

परन्तु प्रत्येक बुराई का निदान होता है : जाति का सरलता से उन्मूलन किया जा सकता है। अथवा कम से कम उस विष को समाप्त किया जा सकता है जो हमारे समाज में घुल गया है—यदि हमारे नेता ऐसा करने का दृढ़ संकल्प करें। इसका निदान अधिक सरल है : प्रश्न केवल यही है कि क्या हम अपने व्यवसायों के प्रति ईमानदार हैं।

हमारी सामाजिक कमजोरियों अर्थात् धर्म, भाषाई अन्तर और जन्म पर आधारित जाति-प्रथा जिसके कारण भारत शताब्दियों तक राजनीतिक ढंग से गुलाम रहा है, की ओर ध्यान दिलाते हुए लेखक ने जाति-प्रथा को गुलामी का सबसे बड़ा कारण माना है। इस संदर्भ में लेखक ने 26 मई, 1954 को पण्डित जवाहरलाल नेहरू को लिखा था :

> परन्तु खेद है कि हमने अभी तक कोई भी शिक्षा प्राप्त नहीं की। जाति की भावना कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है। इसका कारण स्पष्ट रूप से लोकतंत्र का उदय और काम-धंधों की छीना-झपटी है। इसने न केवल हमारे सार्वजनिक जीवन की उच्चतम पहुंच तक ही प्रहार किया है अपितु सेवाओं को भी प्रभावित किया है। इससे विभेद और अन्याय बढ़ता है, इससे विकृतियाँ बढ़ती हैं, आदमी के दिमाग और दिल में संकीर्णता आ जाती है तथा इससे दोषारोपण और प्रत्यादोषारोपण का दुष्चक्र पैदा हो जाता है और हमारे समाज में अविश्वास तथा संदेह की भावना भर जाती है। अभी हाल ही में यह राजनीतिक कुल बैर का साधन भी बन चुका है।
>
> प्रश्न यह है कि इस जाति-प्रथा का उन्मूलन तिस प्रकार किया जाय? गौतम बुद्ध के समय से अब तक गुरुओं और सुधारकों ने प्रयत्न किए हैं लेकिन अभी तक कोई लाभ नहीं हुआ।
>
> मैं एक सुझाव देने का साहस कर रहा हूं जो मैं अपने ही क्षेत्र में गत छ: वर्षों या इतनी ही अधिक से विनम्र तरीके से सिफारिश कर रहा हूं। आधुनिक

5. किंग्सले डेविस, 'द पॉपुलेशन ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, अमरीका, 1951, पृष्ठ 167.

जमाने में किसी भी व्यक्ति के जीवन में जाति उसी समय देखी जाती है जब उसका विवाह होता है। अतः इस बुराई को सफलता से दूर करना है तो ऐसे कदम उठाने होंगे जो विवाह के समय जाति की संगतता अथवा विशिष्टता को समाप्त कर दें। इसका अर्थ यह है कि इस बुराई को जड़ से ही समाप्त करना होगा। सेवाओं में भरती करने वाले नियमों को बनाते समय हम सभी प्रकार की अहर्ताएं निर्धारित करते हैं ताकि यह सुनिश्चित कर लिया जाय कि पद के अनुकूल केवल योग्य और उपयुक्त व्यक्ति को ही काम मिले। इन अर्हताओं में उम्मीदवार के मस्तिष्क और स्वास्थ्य पर ही विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। लेकिन उसके हृदय को मापने के लिए कोई परीक्षा नहीं रखी गई है, जिससे यह पता लगाया जा सके कि उसकी सहानुभूतियों का कितना विस्तृत आयाम है, क्या वह निष्पक्ष होकर काम कर सकेगा, क्या वह हृदय से इतना विशाल है कि उन सभी व्यक्तियों को संभाल सकेगा जो उसके सरकारी कर्त्तव्यों के पालन में उसके सम्पर्क में आते हैं। मेरे मत से हमारे देश की परिस्थितियों में यह परीक्षा अधिकांशतया उद्देश्य की पूर्ति कर सकती है यदि हमें ऐसे उम्मीदवारों की आवश्यकता है। कम से कम शुरू में राजपत्रित पदों पर काम करने वाले व्यक्तियों में यह परीक्षा की जानी चाहिए कि वे अपनी ही जाति की सीमित परिधि से बाहर अपने विवाह करें। ऐसा कानून बनाकर हम किसी को भी उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के लिए बाध्य नहीं करेंगे जैसा कि आज हम किसी भी व्यक्ति को ग्रेजुएट बनने पर बाध्य नहीं करते जो आज कई सरकारी नौकरियों के लिए आवश्यक शैक्षिक अर्हता है। यह कठिन नहीं होगा कि इस प्रकार के युवकों को अधिक संख्या में खोज लिया जाय। आज हमारे कॉलिजों में अध्ययन करने वाले सभी युवक, लड़के और लड़कियां, इस कदम को उठाने के लिए तैयार हैं। मैं विधायकों के लिए भी इस प्रकार की अर्हता रखना चाहूंगा। अलबत्ता, अन्तर-जाति में विवाह करने की अर्हता केवल उन्हीं विवाहों के संबंध में लागू की जायेगी जो किसी निश्चित तारीख से, मानो 1 जनवरी, 1955 को अथवा उसके बाद सम्पन्न किए गए हैं। अविवाहित व्यक्तियों को नौकरी में या विधान सभा में आने की छूट होगी परन्तु यदि वह बाद में अपनी ही जाति में विवाह करेगा तो उसे इस्तीफा देना होगा। इसके अलावा केन्द्र सरकार के अधीन सेवाओं में विभिन्न भाषा-भाषी दल के उम्मीदवारों को ऐसे विवाह कर लेने पर वरीयता दी जायेगी। यह इसलिए भी वांछनीय है कि भाषावार राज्य स्पष्टतया दृष्टि-गोचर हो रहे हैं। इस प्रकार के कानून से रूढ़िवादी लोगों की भावनाओं को भी ठेस नहीं पहुंचेगी क्योंकि हमारे शास्त्रों में अनुलोम विवाह की पवित्रता अक्षुण्ण है। इसका प्रभाव यह होगा कि आज की जाति को कई गोत्रों में परिवर्तित कर लेंगे—और व्यक्ति को अपने पिता के गोत्र में विवाह करने के लिए हतोत्साहित करेंगे।

यदि इस आशय का एक अनुच्छेद संविधान में जोड़ दिया जाय तो भारत की सबसे बड़ी सामाजिक बुराई और राजाजी की सूक्ति का प्रयोग करें तो उनके शब्दों में भारत के प्रथम शत्रु को दस वर्षों की अवधि में समाप्त किया जा सकता है। देश कभी भी शक्तिशाली नहीं हो सकता जब तक कि जाति-प्रथा का उन्मूलन न कर दिया जाय, और यह बुराई तभी खत्म होगी जब राज्य इसमें हस्तक्षेप करे और इस बुराई को उसके मूल से समाप्त कर दें अन्यथा, किसी दिन पारस्परिक अविश्वास और घृणा की आग जिसे जाति प्रथा ने शताब्दियों से सुलगा रखा है, देश को जलाकर भस्म कर देगी और यह तथ्य दिन के बाद रात आने के समान वास्तविक और सूक्ष्म है।

मुझे आशा है कि मेरा सुझाव आपको बेतुका नहीं लगेगा। मुझ जैसे व्यक्ति अनुभव से यह जानते हैं कि उन लोगों की अपेक्षा अन्य जातियों में जन्म लेने का क्या अर्थ होता है,जो विशेष व्यक्ति माने जाते हैं और जो अपने को विशेष व्यक्ति मानते हैं। इन जातियों में जन्म लेने वाले व्यक्तियों को केवल जन्म के नाम पर ही तिरस्कृत व्यवहार मिलता है और उनके प्रति सामाजिक भेद-भाव किया जाता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि काफी लोग एक साथ ही धर्म-परिवर्तन कर चुके हैं। यह स्थिति केवल उन्हीं व्यक्तियों की नहीं है जो समाज के निचले स्तरों पर रहते हैं बल्कि अन्य लोगों में भी यही हुआ है······

इस प्रस्तावित संशोधन के लिए निश्चय ही बड़ा विरोध होगा परन्तु आप इस संशोधन को कराने के लिए कटिबद्ध हैं तो यह विरोध कम समय में ही दूर हो जायेगा। इस स्थिति के बारे में मेरे अध्ययन के अनुसार इस प्रस्ताव का शिक्षित वर्गों में पर्याप्त स्वागत होगा जबकि हिन्दू कोड बिल के कल्पित प्रतिबन्धों को उतना स्वागत नहीं मिल पाया था।

चाहे कुछ भी बाधाएं क्यों न हों, यदि इस आधार पर संविधान में कोई भी संशोधन कर लिया जाता है तो मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार हमारे देश की वैसी सेवा होगी जैसी कि स्वराज प्राप्ति से हुई थी। जब तक ऐसा नहीं किया जाता, हमारे स्वामित्व की नींव सही अर्थों में नहीं पड़ेगी।

सादर

आपका

ह० चरण सिंह

पं० जवाहरलाल नेहरू
भारत के प्रधान मंत्री,
नई दिल्ली।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस पत्र का जो उत्तर भेजा वह इस प्रकार है :

गोपनीय

कैम्प : द रिट्रीट
मशोब्रा, शिमला
27 मई, 1954

प्रिय चरन सिंह

आपके 22 मई के पत्र के लिए धन्यवाद।

आप जानते ही हैं कि मैं जाति-प्रथा को समाप्त करने पर अत्यधिक महत्व देता हूं। मेरा विचार है कि जाति-प्रथा हमारे समाज को सबसे अधिक कमजोर करने वाला कारक है। मैं आपसे सहमत हूं कि जाति-प्रथा का तब तक अन्त नहीं होगा जब तक कि अन्तर-जातीय विवाह सामान्य रूप से सम्पन्न न होने लगें और उन्हें उसी प्रकार देखा जाय जैसे वे काफी सामान्य हैं। मैं इससे भी आगे कहना चाहूंगा कि हमारे देश में तब तक वास्तविक एकता नहीं होगी जब तक कि विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच विवाहों के प्रति हमारे पक्षपात समाप्त नहीं होते।

परन्तु जैसा कि आप कहते हैं कि हम संवैधानिक प्रतिबंधों से लोगों को बाध्य करने का प्रयत्न करें और ऐसे नियम बनाएं कि लोग अपनी जातियों के बाहर विवाह करने लगें—यह सुझाव मुझे ऐसा लगता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधारभूत सिद्धांत का विरोधी है। विवाह काफी हद तक व्यक्तिगत मामला है और हम विवाह को अधिकाधिक व्यक्तिगत मामला बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं और हम चाहते हैं कि इसे पुरानी रीति-रिवाज तथा परम्पराओं से निकाल बाहर करें। आपने जो सुझाव दिया है, वह इस दृष्टिकोण से पीछे हटाने वाला है, यद्यपि इसका अर्थ वांछनीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करना है।

हमें अन्यथा परिस्थितयां पैदा करनी हैं। स्पेशल मैरिज बिल इसी दिशा में एक कदम है। अन्य कदम भी बाद में उठाए जायेंगे। आखिरकार व्यक्ति उन्हीं व्यक्तियों से अपना विवाह करते हैं जो उनके विचार और रहन-सहन के तौर-तरीके के कुछ न कुछ अनुकूल हैं। वास्तव में अन्य किसी भी प्रकार से किया गया विवाह ठीक नहीं है और ऊपर से विवाह के लादे जाने से यह संभावना है कि कहीं विवाहित दम्पतियों के लिए यह विनाशकारी न सिद्ध हो। मैं स्वयं इस चयन के पक्ष में नही हूं कि विवाह को कानून द्वारा नियंत्रित किया जाय अथवा प्रलोभन देकर उन्हें सम्पन्न किया जाय।

भवदीय
पं० जवाहरलाल नेहरू

श्री चरनसिंह,
मंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार,
लखनऊ

नेहरू के उत्तर से यह विदित होगा कि वह व्यवहारिक आदर्श यथा—अंतरा-जातीय विवाह को साकार करने हेतु कदम उठाने के लिए तैयार नहीं थे । जन सामान्य के बीच काम करने और सोचने की उनकी सामान्य प्रवृत्ति के अनुरूप ही था । उन्होंने यह स्वीकारा कि 'जाति-प्रथा हमारे समाज को सबसे अधिक कमजोर करने वाला कारक है' लेकिन उन्होंने अतंर-जातीय विवाह को, जो इस समस्या का मूल है, कानूनी रूप प्रदान करने के लिए कोई भी कदम उठाने में यह कहते हुए इनकार कर दिया कि ऐसा करने से व्यक्तिगत चयन या स्वतंत्रता के सिद्धान्त को ठेस पहुंचेगी ।

हमारे देश में धर्मनिरपेक्षता सबसे बड़ी आवश्यकता है और उन्होंने भी इस संबंध में आवाज उठाई थी लेकिन फिर भी उन्होंने उस मुस्लिम लीग को राजनीति में कार्य करते रहने की अनुमति दे दी जो हमारे देश के विभाजन के लिए उत्तरदायी थी, और 1960 में केरल राज्य में मुस्लिम लीग के साथ कांग्रेस की मिलीजुली सरकार बनाने की उन्होंने अनुमति दी थी । यह स्थिति फिर भी स्वीकार कर ली गई जबकि 3 अप्रैल, 1948 को कान्स्टीटुयेण्ट असेम्बली (लेजिसलेटिव) ने एक संकल्प पारित किया था जो इस प्रकार है ।

> "चूंकि लोकतंत्र को उचित रूप से चलाने और राष्ट्रीय एकता तथा भाई-चारे के विकास के लिए आवश्यक है कि भारतीय जीवन से साम्प्रदायिकता को समाप्त कर दिया जाये अतः इस असेम्बली का यह मत है कि किसी भी सांप्रदायिक संगठन को अपने संविधान द्वारा अथवा अपने अधिकारियों में से किसी अधिकारी और अपने विभागों में से किसी विभाग में विहित विवेकपूर्ण शक्ति के प्रयोग द्वारा धार्मिक कौम और जाति या इनमें से किसी आधार पर व्यक्तियों को सदस्य बना लेता है अथवा सहायता से अलग कर देता है, तो **उसे समुदाय की प्रामाणिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और शैक्षिक आवश्यकताओं के लिए उन कार्यकलापों को छोड़कर किन्हीं अन्य कार्यकलापों में लगने की अनुमति नहीं देनी चाहिए । और विधायकी तथा प्रशासकीय जैसी सभी कार्रवाइयां की जा सकती हैं जो इन कार्यकलापों को रोकने के लिए आवश्यक हों ।**"

देश का विभाजन बहुत बुरा था । लेकिन हम जनता के एक बहुत बड़े भाग को उनकी इच्छा के विरुद्ध अपने साथ रखने की बात सोच नहीं सकते थे—जवाहरलाल नेहरू ने एक प्रस्ताव में ऐसा कहा जिसे उन्होंने 1941 में इलाहाबाद में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सत्र के लिए तैयार किया और उस समिति के समक्ष प्रस्तुत किया था । एम० ए० जिन्ना ने कांग्रेस के नेतृत्व की कमजोरी समझ ली थी और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वे अपनी बात पर अड़ जाएं तो वे अपनी बात मनवा लेंगे ।

नेहरू अपनी इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वे जनता से संबंधित समस्याओं के बारे में

अपने प्रत्येक वक्तव्य को 'लेकिन', 'तथापि' अथवा 'यद्यपि' शब्द का प्रयोग करके अभिव्यक्त करते रहे। बात यह नहीं थी कि वे किसी भी समस्या का जो हमें ब्रिटिश राज्य के दिनों से हिरासत में मिली थी, निराकरण करने के योग्य नहीं थे परन्तु उन्होंने कई ऐसी नई समस्याओं को जन्म दिया जिनका आज समाधान करना असंभव सा हो गया है।

फिर भी अन्तर-जातीय विवाहों के प्रश्न को ही लिया जाय। इसमें 'ऊपर से थोपने' का कोई प्रश्न ही नहीं था जैसा कि लेखक ने प्रस्ताव कार्यान्वित करने के लिए कहा था। उदाहरणार्थ लेखक ने अपने पत्र में यह बताया था कि सरकार के बारे में यह नहीं किया जा सकता कि उसने किसी पर 'आरोपण' किया है जबकि वह राज्य या अखिल भारतीय सेवा में भर्ती होने के लिए उम्मीदवार की पात्रता के संबंध में शारीरिक और शैक्षिक अर्हताओं को निर्धारित करती है। लेखक के प्रस्ताव का यह भी आशय नहीं था कि 'कानून द्वारा' 'विवाह के चयन पर नियंत्रण' लगा दिया जाय और यह किसी भी न्यायशास्त्र के किसी भी न्याय द्वारा न तो स्वीकार्य है अथवा न विचारणीय है। इस देश के कानूनी संग्रह में पहले ही कई प्रतिबंध या नियमन प्रावधान विवाह और तलाक के संबंध मैं विद्यमान हैं। हिन्दू विधि हजारों वर्ष पूर्व ही बनाई जा चुकी थी जिसमें यह विधान है कि कोई भी व्यक्ति अपनी सात पीढ़ियों तक अपने चचेरे, ममेरे या फुफेरे भाइ-बहिन से विवाह नहीं करेगा और जनता सरकार ने भी दो या तीन वर्ष पूर्व यह नियम बनाया था कि कोई भी भारतीय उस लड़की से विवाह नहीं करेगा जो 18 वर्ष से कम आयु की होगी। 1901 की जनगणना रिपोर्ट, खंड I, भाग I, पृष्ठ 537 के अनुसार हिन्दुओं में 2,378 जातियां थीं: कोई भी उम्मीदवार राजपत्रित सेवा अथवा विधानमंडल की सदस्यता के लिए अपने धर्म का पालन करते हुए शेष 2,377 दलों में से सरलता से अपना जीवन-साथी चुन सकता था।

आज नेहरू और उनकी पुत्री जो 2 सितम्बर, 1946 से भारत के भाग्य-विधाता हैं, उनके द्वारा अपनाई गई नीतियों के अनुसार जातिवाद और साम्प्रदायिकता हमारी सामाजिक एकता के रास्ते में दो सबसे बड़े अवरोध हैं और इसीलिए हमारे देश की प्रगति नहीं हो पाती। विदेशी और अल्पसंख्यक लोगों के शासन से शताब्दियों बाद देश आजाद हुआ। अतः देश को एक सबल और स्पष्ट विचार वाले नेता की आवश्यकता थी जो हमारे समाज के छिद्रों को भर सके और देश को एक सशक्त राष्ट्र बना सके —देश को ऐसे राजनीतिक दार्शनिक की आवश्यकता नहीं थी जिसमें प्रशासन की क्षमता न हो और जिनके मत में विश्व एक ऐसी स्थिति पर आ गया है जहां राष्ट्रीय सीमाओं की कोई संगतता नहीं रह जाती।

जवाहरलाल नेहरू ने लेखक के सुझाव के संबंध में जो उत्तर दिया है उसके पीछे वास्तविक इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा हो उसके बावजूद वह स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं करते थे कि जाति-प्रथा इतनी बड़ी बुराई है जिसका निदान प्रबल रूप से किया जाना चाहिए। उन्हें व्यक्तिगत सभाओं में

उपस्थित रहने में किसी प्रकार का कोई खेद नहीं था। यह बात स्वर्गीय श्री दुर्गादास, विख्यात पत्रकार के लेखों में से एक लेख के निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट है। जिन्हें 'इन्साफ' के छद्म नाम से पॉलीटिकल डायरी के रूप में प्रेस को प्रकाशन हेतु बराबर भेजा करते थे।

'हिन्दुस्तान टाइम्स', नई दिल्ली
दिनांक 29 मार्च, 1955

इन्साफ की पॉलीटिकल डायरी

> प्रधानमंत्री ने रक्षामंत्री के निवास पर अपने समुदाय के नववर्ष दिवस के आयोजन पर कश्मीरी पंडितों के एक दल में शामिल होकर कोई एक अच्छी परंपरा स्थापित नहीं की। उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि उनके जाति-भाइयों की जातिवादिता के संबंध में विचार प्रकोष्ठों और घर के पिछवाड़ों में लोग क्या-क्या चर्चा करते हैं।

श्री दुर्गादास दत्त ने उनके 'जाति-भाइयों की जातिवादिता' की अभिव्यक्ति से वस्तुतः यह कहना चाहा है कि नेहरू की कमजोरी अथवा प्राथमिकता देने का प्रत्यक्ष उपसिद्धान्त यह था कि कश्मीरी पंडितों को सरकारी सेवाओं में भरती किया जाय और उनकी तैनाती की जाय। जब विचार प्रकोष्ठों और घर के पिछवाड़ों में की गई चर्चा की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया तो उन्होंने यह कहा कि 'आप जिस शैतान को जानते हैं, वह शैतान उस शैतान से कहीं अच्छा है जिसे आप बिल्कुल भी नहीं जानते।'

इस बात का निष्कर्ष दिया जाय अथवा इस बात को दुहराया जाय : हमारे देश को एक बार फिर महान और शानदार बनाने के सभी प्रयत्न और योजनाएं ऐसी होनी चाहिए जिनसे गरीबी मिट जाय, बेरोजगारी समाप्त हो जाय और आर्थिक असमानताओं की खाई को पाट दिया जाय। यह सभी केवल व्यर्थ ही रहेगा। जब तक हमारे देश के लोग काम करने के लिए तैयार नहीं हैं और आत्म निर्भरता की भावना बनाने के लिए उद्यत नहीं हैं और वे ऐसा तब तक नहीं करेंगे जब तक कि वे यह महसूस न कर लें कि विश्व वस्तुतः अधिक यथार्थवादी है और मनुष्य अधिकांशतया अपने भाग्य का स्वयं विधाता है और जब तक वे यह न जान लें कि शारीरिक श्रम उतना ही नेक है जितना बौद्धिक कार्य नेक होता है और उन्हें यह भी जानना है कि जन्म से सभी व्यक्ति समान होते हैं।

जनसंख्या-नियंत्रण

प्रत्यक्ष रूप में हमारी परंपराएं ही परिवार के आकार के संबंध में हमारी अभिवृत्तियों का निर्माण करती हैं। कई बच्चों के जन्म और विशेषकर बेटों के जन्म

को हम लोग आपदा न मानकर दैवी वरदान मानते हैं। भारतीय सांख्यिकीय संस्थान (कलकत्ता) के डॉक्टर कान्ति पकरासी ने 'भारत में परिवार नियोजन के जैविक-सामाजिक प्रसंग (1972)' के अध्ययन में यह कहा है कि अधिकांश भारतीय दम्पतियों को अभी परिवार नियोजन की सामाजिक आवश्यकता को स्वीकार करना है और बच्चों, विशेषकर लड़कों की इच्छा परिवार नियोजन के कार्यक्रम के प्रति उनकी उदासीनता का मुख्य कारक है।

भारत की जनसंख्या 1856 में 13 करोड़ 76 लाख और 1930 में 27 करोड़ 50 लाख थी और अब मार्च, 1981 में 68 करोड़ 40 लाख है।

नीचे तालिका 148 में यह दिखाया गया है कि आधुनिक सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं (चाहे वे कितनी ही असन्तोषजनक और अपर्याप्त ही क्यों न हों जैसा कि अन्य देशों की तुलना से ज्ञान होता है) के प्रसार के कारण महामारी पर नियंत्रण हो गया है तथा परिवहन और संचार सुविधाओं दोनों के कारण देश और विदेश में दुर्भिक्ष पीड़ित जनसंख्या को कम समय में ही खाद्यान्न उपलब्ध हो जाता है, स्वतंत्रता के समय से मृत्यु-दर में तेजी से कमी आ गई है जबकि इसके विपरीत परिवार नियोजन के प्रभावकारी कार्यक्रम का अभाव है तथा जन्म दर में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसके परिणामस्वरूप संवृद्धि दर बहुत तीव्र गति से बढ़ी है और हमारी जनसंख्या 195१ में 36 करोड़ 10 लाख की जो बढ़ाकर 1971 में 54 करोड़ 70 लाख हो गई।

तालिका 148

जनसंख्या की जन्म, मृत्यु और संवृद्धि-दर (1901-1971

अवधि	जन्म-दर	मृत्यु-दर	प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलोमीटर में)	घनत्व प्रयोज्य भूमि क्षेत्रफल का (वर्ग किलोमीटर में)
1901-1911	48.1	42.6	+5.70	22.9
1911-1921	49.2	47.2	—0.30	20.1
1921-1931	4ɔ.4	36.3	+11.00	26.8
1931-1941	45.2	31.2	+14.23	31.8
1941-1951	39.9	27.4	+13.31	32.1
1951-1961	41.7	22.8	+21.64	42.2
1961-1971	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	+24.80	47.5

स्रोत : भारत की जनगणना, 1971 :

(i) 1971 का लेख 1, पूरक पत्र, अस्थायी जनसंख्या के योग, पृष्ठ 36.
(ii) 1972 का लेख 2, धर्म, पृष्ठ 7, भारत, 1971-72, पृष्ठ 104.

1979 में एक करोड़ या इससे अधिक जनसंख्या वाले 58 देशों में से 17 देशों में, जिनमें भारत की तुलना में जनसंख्या का कम घनत्व है और जहां कम जन्म दर है, चीन, रूस, अमरीका, फ्रांस, स्पेन, पोलैण्ड, अर्जेंटीना, पूर्वी जर्मनी, ताइवान, कनाडा, यूगोस्लाविया, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रेलिया, हंगरी, चिली और क्यूबा हैं वास्तव में, इन देशों में से एक देश पूर्वी जर्मनी में ऋण वृद्धि दर है)। नवीनतम भारत की जनगणना (मार्च, 1981) के आंकड़ों को देखते हुए इटली ओर इंगलैण्ड भी इसी ग्रुप के अन्तर्गत आ जाते हैं।

सात देश, यथा—जापान, पश्चिमी जर्मनी, इंगलैण्ड, दक्षिणी कोरिया, श्रीलंका की नीदरलैंड ओर बेल्जियम की जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक है लेकिन भारत की तुलना में वहां अपेक्षाकृत कम संवृद्धि-दर है। इसके विपरीत, तनजानिया में जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत कम है लेकिन वहां संवृद्धि दर अपेक्षाकृत अधिक है।

तर्मा, इथियोपिया, नेपाल और मोजाम्बीक में जनसंख्या की संवृद्धि-दर उतनी ही है जितनी भारत में है अर्थात् 2.2 या 2.3 है लेकिन वहां जनसंख्या का घनत्व बहुत कम है। मिस्र में भी जनसंख्या की वृद्धि दर इतनी ही है जितनी भारत में है लेकिन वहां जनसंख्या का बहुत अधिक घनत्व (683) है। बंगलादेश ही एक ऐसा देश है जहां जनसंख्या का उच्च घनत्व (675) और जनसंख्या की संवृद्धि दर लगभग (2.4) दोनों ही हैं जैसा कि भारत में हैं। वास्तव में बंगलादेश में जनसंख्या की संवृद्धि दर और भी अधिक है। बंगलादेश के पर्याप्त संख्या में नागरिक गत 30 वर्षों से भारत के अपने समीपी राज्य असम और त्रिपुरा में घुस आए हैं।

शेष देशों में से ताइवान के आंकड़े या क्षेत्रफल उपलब्ध नहीं हैं। शेष देश अर्थात् भारत की तुलना में 26 देशों में अपेक्षाकृत अधिक संवृद्धि-दर है लेकिन वहां जनसंख्या का अपेक्षाकृत कम घनत्व है जैसा कि निम्न तालिका में दिखाया गया है।

तालिका 149

संसार के देशों में तुलनात्मक संवृद्धि-दर और घनत्व

क्रम संख्या	देश	जनसंख्या (हजारों में)	जनसंख्या संवृद्धि-दर (%)	प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल (वर्ग किलोमीटर में)	घनत्व (प्रयोज्य भूमि का क्षेत्रफल प्रति किलोमीटर में)
1	2	3	4	5	6
1.	चीन	8,65,677	1.7	43,92,000	197
2.	भारत	6,25,018	2.2	24,79,500	252
3.	रूस	2,58,932	0.9	1,52,61,040	16

1	2	3	4	5	6
4.	संयुक्त राज्य अमरीका	2,16,817	0.8	71,8,3000	30
5.	इण्डोनेशिया	1,43,282	2.6	15,12,460	64
6.	ब्राजील	1,12,239	2.8	8,92,110	125
7.	जापान	1,13,863	1.3	3,03,820	374
8.	बंगला देश	80,558	2.4	1,19,340	675
9.	नाइजीरिया	66,628	2.8	7,58,890	87
10.	पाकिस्तान	75,278	3.2	2,81,600	267
11.	मैक्सिको	64,594	3.5	1,684,190	38
12.	पश्चिमी जर्मनी	61,396	0.2	2,04,330	300
13.	इटली	56,446	0.7	2,37,960	237
14.	इंगलैंड	55,852	0.1	2,04,460	273
15.	फ्रांस	53,105	0.6	4,64,680	114
16.	विएतनाम	47,872	2.9	2,26,700	211
17.	फिलीपीन्स	4,5028	2.9	2,21,700	203
18.	थाइलैंड	44,039	2.8	55,310	796
19.	तुर्की	42,134	2.7	7,55,340	55
20.	मिस्र	38,741	2.2	56,640	683
21.	स्पेन	36,351	1.1	4,68,540	77
22.	कोरिया गणराज्य	36,436	1.8	88,600	411
23.	ईरान	34,782	3.0	4,49,500	77
24.	पोलैंड	34,698	0.9	2,77,510	125
25.	बर्मा	31,510	2.2	5,56,350	56
26.	इथोपिया	28,925	2.3	8,71,900	33
27.	दक्षिणी अफ्रीका	26,952	2.7	10,05,600	26
28.	अर्जेन्टीना	26,056	1.3	27,87,200	10
29.	जैरे	26,376	2.5	15,28,830	17
30.	कोलंबिया	25,048	2.9	10,02,450	24
31.	ताइवान	16,793	2.0	—	—
32.	कनाडा	23,316	1.3	39,31,290	5
33.	यूगोस्लाविया	21,718	0.9	2,34,530	92
34.	रोमानिया	21,658	1.0	2,12,840	101
35.	मोरक्को	18,245	2.7	2,55,350	71
36.	अल्जीरिया	17,910	3.2	4,79,220	37
37.	सूडान	16,919	2.6	12,29,950	13
38.	पूर्वी जर्मनी	16,765	—0.2	92,440	18
39.	पेरू	16,520	3.0	10,43,530	15
40.	तन्जानिया	16,363	3.0	8,08,740	20
41.	चेकोस्लोवाकिया	15,031	0.7	1,14,910	130

क्रमशः

1	2	3	4	5	6
42.	केन्या	14,337	3.6	79,140	181
43.	अफगानिस्तान	20,339	2.5	1,54,200	131
44.	श्रीलंका	13,971	1.6	49,530	282
45.	आस्ट्रेलिया	14,074	1.7	60,26,000	2
46.	नीदरलैंड	13,853	0.9	23,700	584
47.	वेनेज्यूला	12,737	3.1	7,01,370	18
48.	नेपाल	13,136	2 3	84,640	155
49.	मलेशिया	12,600	2.8	2,82,170	44
50.	युगांडा	12,353	3.4	1,32,970	92
51.	इराक	11,907	3.4	1,07,900	110
52.	घाना	10,475	2.8	1,58,520	66
53.	हंगरी	10,648	0.4	83,040	128
54.	चिली	10,656	1.9	3,83,140	27
55.	बेल्जियम	9,931	0.4	23,670	419
56.	मोजांबीक	9,678	2.3	6,64,800	14
57.	क्यूबा	9,590	1.6	79,500	120
58.	पुर्तगाल	9,577	0.8	77,460	123

स्रोत : जनसंख्या के आंकड़ों के लिए, खाद्यान्न कृषि संगठन प्रोडक्शन इयर बुक, 1979 खण्ड 33 तालिका 3 और जनसंख्या संवृद्धि दर के लिए डेमोग्राफिक इयर बुक, 1977, संयुक्त राष्ट्र संगठन, तालिका 3।

'स्तम्भ 5 में प्रयोज्य भूमि के क्षेत्रफल के आंकड़ों के लिए, जिसमें कृषि योग्य भूमि, स्थायी चरागाह और हरे-भरे मैदान, वन और वनों की भूमि सम्मलित की गई है, खाद्यान्न कृषि संगठन, प्रोडक्शन इयर बुक, 1978, तालिका-I, पृष्ठ 45-46 देखें।

टिप्पणी : 1. ताइवान को इस तालिका में नहीं दिखाया गया है क्योंकि उसकी जनसंख्या एक करोड़ से अधिक होते हुए भी प्रयोज्य भूमि-संसाधनों और जनसंख्या के घनत्व के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। 2 मार्च, 1981 में आयोजित जनगणना के प्रारंभिक आंकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या की संख्या की संवृद्धि पर इस शताब्दी के 18वें दशक में 2.475 (डैमोग्रैफिक इयर बुक 1977, के अनुसार अनुमानित 2.2 के बजाय है।)

अधिक स्पष्ट रूप से, हमारी जनसांख्यिकीय स्थिति निश्चय ही हमारे लिए खतरनाक हो गई है। हमारी जनसंख्या की संवृद्धि दर का जिसमें जनसंख्या का घनत्व भी शामिल है। विपरीत प्रभाव उन भारतीय प्रयत्नों पर पड़ा है जो हमारे देश के कल्याण के लिए किया जा रहा है। परन्तु कतिपय सम्मानित व्यक्ति इसे देश के धार्मिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थित मानते हैं। आचार्य विनोवा भावे के शब्दों में कहा जाता है—व्यक्ति को भूखा नहीं रहना चाहिए क्योंकि परमात्मा ने उसे खाने लिए एक मुंह दिया है। उसे काम करने लिए दो हाथ दिए है। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर कतिपय लेखकों, राजनीतिक नेताओं ने मनुष्यों

को 'मानवीय संसाधनों' के रूप में वर्गीकृत किया है क्योंकि संसाधन सहायक होते हैं। एल्मेर पैंडेल ने कहा है, "लेकिन अधिकांश मानव कुल मिलाकर सहायता देने की अपेक्षा भार बन जाते हैं। मानव संसाधन हितलाभों का आधार होता है। फिर भी जब लोगों की संख्या अधिक होती है तो उनका कोई एक भाग अन्य सभी व्यक्तियों पर निर्भर हो जाता है और यह स्थिति लोगों के आधार के बिल्कुल विपरीत है। वे संसाधन न बनकर दायित्व बन जाते हैं।"[6]

वस्तुत: अमरीका के प्रारम्भिक दिनों में बढ़ती हुई जनसंख्या एक परिसम्पत्ति थी जब वहां उपयोग करने के लिए पर्याप्त भूमि खाली थी और देश में प्रचुर खनिज सम्पत्ति विद्यमान थी जिसे कोई वहां जाकर उसका सदुपयोग कर सकता था। यह स्थिति आज भी अफ्रीका और लेटिन अमरीका के कतिपय देशों में और शायद आस्ट्रेलिया, कनाडा और रूस जैसे देशों में है जहां अब तक काम में न लाई गई और अन्य प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में हैं। अब कारखानों को कामगारों की आवश्यकता है, सड़कों का निर्माण किया जाना चाहिए और गांवों का प्रसार किया जाना चाहिए।

परन्तु यह बात भारत के लिए सही नहीं है (अन्य देश भी इसी प्रकार से गिने जा सकते हैं)। यहां आज करोड़ों लोग दूसरे करोड़ों लोगों के लिए परिस्थितियां अनुकूल बनाने की अपेक्षा कठिन बना देते हैं। जनसंख्या संवृद्धि, स्वयं अपने से (या आर्थिक विकास की प्राप्तियों की अपेक्षा अधिक ऊंची दर पर) हमारी परिस्थितियों में केवल उपभोक्ता स्तरों को और नीचा गिराती है जिससे घोर कष्ट और अवनति की स्थिति पैदा हो जाती है तथा इसके फलस्वरूप गरीबी और अभाव बढ़ जाते हैं। कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं है और न कोई ऐसा उदाहरण हो सकता है जहां किसी राष्ट्र ने बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य किसी विशिष्ट प्रकार का स्थान प्राप्त कर लिया हो जब तक कि उसके आर्थिक उत्पादन की दर जनसंख्या से अधिक न हो जाए।

इसके अलावा, डॉ० किंग्सले डेविड ने कहा है, "जनसंख्या की वृद्धि के लिए आर्थिक रूप से अनिश्चित काल तक प्रतिसाद करने का प्रयत्न निश्चय ही असफल रहेगा क्योंकि मानव सीमित संसार में रहते हैं। परमाणु ऊर्जा सूर्य की किरणों का प्रयोग समुद्री ज्वारों से उठाए जाने वाले लाभ जैसे सभी प्रयत्नों से खाद्यान्न आपूर्ति को काफी बढ़ाया जा सकता है लेकिन यह सभी प्रयत्न बराबर बढ़ती हुई जनसंख्या की देखभाल सदैव नहीं कर सकते।"[7]

हम सबसे अधिक वांछनीय फसलों और पशुधन को चुन सकते हैं और उन्हें उनके लिए सबसे उपयुक्त भूमि पर पैदा कर सकते हैं। हम अभी भी हरित क्रांति की उपलब्धि के लिए समर्थ हो सकते हैं जबकि हम ऐसा कर भी चुके हैं। हम

6. पॉपुलेशन ऑन द लूज़', न्यूयार्क 1951, पृष्ठ 4-5.
7. 'द पॉपुलेशन ऑफ़ इंडिया एंड पाकिस्तान', 1951, पृष्ठ 22.

घास भी खाना प्रारम्भ कर सकते हैं क्योंकि हाल ही में वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि पशुओं के मांस की तुलना में घास में दस गुना अधिक प्रोटीन होता है। हम समुद्र में मछली पाल सकते हैं जैसा कि जापान ने शुरू किया है। मिट्टी और पौधों के अभिनव परिवर्तन अथवा सुधार से हम उतना अधिक उत्पादन कर सकते हैं जो जनता की वृद्धि से भी अधिक हो सकता है लेकिन इस प्रकार के सुधार की भी कोई सीमा है : कभी न कभी खाद्यान्न उत्पादन भी अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाएगा।

सुधार यदा-कदा ही किए जा सकते हैं लेकिन उन्हें लगातार नहीं किया जा सकता। अन्तिम कारक भूमि है। उस उत्पादन की भी एक सीमा है जो भूमि करती है। वैज्ञानिक ज्ञान और पूंजी निवेशों से किए गए सुधारों और श्रम की भी एक सीमा होती है। अन्ततोगत्वा एक ऐसी स्थिति आ जाती है जिसके बाद किसी भी दिए गए क्षेत्र में अतिरिक्त व्यय और अतिरिक्त श्रम से व्यय की प्रति यूनिट अथवा श्रम की प्रति यूनिट के हिसाब से उत्तरोत्तर कम उत्पादन होगा; इसलिए हमारे देश में जितनी भी भूमि उपलब्ध है वही जनसंख्या की नीतियों के निर्धारण करने के लिए सबसे सशक्त कारक है। यदि हमारे औसत फार्म का आकार वर्ष-प्रतिवर्ष कम होता जाता है जैसा कि 1921 से भारत में तेजी से कम होता गया है तो हम उस परिस्थिति से बहुत दूर नहीं हैं जहां सबसे अधिक दक्षतापूर्ण काम में लाई जाने वाली यूनिट किसान और उसके परिवार की आवश्यकताओं के लिए बहुत छोटी होगी। अतः कृषीतर संसाधनों के विकास और रोजगार से बेशी की व्यवस्था की जा सकेगी।

अंत में यदि यह मान भी लिया जाए कि हम वास्तव में असीमित मात्रा में खाद्यान्न-उत्पादन कर सकते हैं लेकिन हम स्थान के लिए क्या करेंगे ? हमारी दुनिया की कुल भूमि क्षेत्र में रेगिस्तान, बर्फ और पर्वत शामिल हैं और इसका क्षेत्रफल केवल 5 करोड़ 60 लाख वर्गमील है। यह मान लिया जाए कि हम प्रत्येक व्यक्ति को रहने के लिए केवल एक वर्गगज जमीन आवंटित करें : तो जैसाकि डब्ल्यू० आर्थर लुईस[8] ने कहा है कि यदि विश्व की जनसंख्या प्रतिवर्ष कम से कम एक प्रतिशत बढ़ती जाए तो 1,100 वर्ष बाद खड़े होने के लिए भी बहुत ही कम भूमि होगी। आज विश्व की वास्तविक संवृद्धि दर प्रतिवर्ष दो प्रतिशत है और भारत की संवृद्धि दर प्रतिवर्ष 2.5 प्रतिशत है। इस प्रकार विश्व भर को प्रतिशोध दंड भुगतना होगा और भारत को 1,100 वर्षों से बहुत पूर्व यह दंड भुगतना पड़ेगा।

इसलिए भारत के लिए जन्म-नियंत्रण पर मात्र सैद्धान्तिक वाद-विवाद अब अधिक संगत नहीं है अथवा इसकी असंगतता समाप्त होनी चाहिए। अब आवश्यकता यह है कि सभी संभव उपायों से जन्म-नियंत्रण को व्यवहार में लाया जाए और परिवार नियोजन के लिए सभी शल्य चिकित्सीय, रासायनिक, जैविक और यांत्रिक तरीकों का लाभ उठाया जाए। चूंकि कम आयु की महिलाओं में तुलनात्मक रूप से बच्चे का जन्म अपेक्षाकृत अधिक होता है अतः लड़कियों की विवाह की आयु के बढ़ाने की

8. 'द थियोरी ऑफ इकनॉमिक ग्रोथ', ज्यार्ज एलिन एंड अनविन लिमिटेड, 1957, पृष्ठ 309.

आवश्यकता है। चीन में पुरुषों को 25 वर्ष की आयु से पूर्व और लड़कियों को 22 वर्ष की आयु से पूर्व विवाह के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता। अभी हाल ही में (1979 में) भारत में लड़कियों के विवाह की आयु बढ़ाकर 18 वर्ष कर दी गई है। जापान में अपनी शिक्षा के उच्च स्तर, अनुशासित राष्ट्रीय चेतना और पर्याप्त चिकित्सीय संसाधनों की सहायता से कठोर, महंगे और अप्रसन्नतादायक गर्भस्राव के तरीके अपना कर जन्म दर को बहुत कम कर लिया है जबकि जापान में गर्भ-निरोधक वस्तुओं का बहुत कम उपयोग होता है। 1971 में 'इण्ियाज़ मैडिकल टरमीनेशन ऑफ़ प्रैगनैन्सी एक्ट' पारित किया गया जो इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। लेकिन इससे भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकला है। यदि सही अर्थों में देखा जाय तो इस प्रकार के गर्भस्राव कानून में एक ऐसा भी उपबंध शामिल किया जा सकता है जिसका अभिप्राय यह हो कि जब कोई महिला दूसरी बार गर्भस्राव की मांग करे तो उसके पति को भी वैसक्टोमी आपरेशन करा लेना चाहिए।

इसके अलावा जनसंख्या संवृद्धि पर नियन्त्रण राष्ट्र के हित में है। एक कानून इसी प्रकार का बनाना होगा और कार्यक्रमों को इस प्रकार बनाना होगा कि हमारी जनता के सभी वर्ग और भाग इस राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए बराबर योगदान करें। प्रत्येक नागरिक को कानूनी दायित्व के अन्तर्गत परिवार नियोजन के लिए यह देखना होगा कि बच्चों के जन्म में समुचित अन्तर हो और बच्चों की संख्या तीन से अधिक न हो।

सभी प्रकार के परिवार नियोजन अभियानों और कार्यक्रमों के बावजूद हमारा देश अब भी भयावह आयामों के जनसांख्यिकीय विस्फोट की जकड़ में फंसा हुआ है। जनसंख्या की निवल संवृद्धि घटने की बजाय 1951-61 में 21.64 प्रतिशत से बढ़कर 1961-71 में 24.80 प्रतिशत हो गई है। मार्च, 1981 में जनगणना की प्रारंभिक रिपोर्टों से यह विदित होता है कि वस्तुतः जनसंख्या की संवृद्धि दर में कोई कमी नहीं है। यह दर इस शताब्दी के आठवें दशक में 24.75 थी जबकि इस शताब्दी के सातवें दशक में 24.80 थी।

डॉ० जैक लिपेज़ ने अन्तर-गर्भ-निरोधक उपाय खोजा है जो सबसे अधिक व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। उन्होंने इस शताब्दी के सातवें दशक के मध्य में यह कहा है : "भारत में सबसे अधिक कमी समय की है। जन्म-नियंत्रण क्रांति को दस वर्षों से कम अवधि में ही प्रारंभ कर देना चाहिए।" फिर भी क्रांति जैसा कुछ भी अभी तक प्रारंभ नहीं हुआ है, इसके विपरीत विश्व बैंक की परियोजना में यह सुझाव दिया गया है कि यदि भारत में आज की दर से जनसंख्या में वृद्धि होती रही तो भारत में अब से सौ वर्षों बाद 280 करोड़ जनसंख्या हो जायगी। वास्तव में इस शताब्दी के अंत तक भारत की जनसंख्या 100 करोड़ हो सकती है।

फिर भी जनसंख्या की समस्या का हल केवल सरकारों का ही उत्तरदायित्व नहीं है। यह प्रत्येक विचारशील नागरिक की सबसे गहरी चिन्ता का विषय है। किसी भी व्यावहारिक तरीके से तब तक कोई परिणाम नहीं निकल सकता जब तक जनसंख्या

की नीति जिसका कि प्रस्ताव किया जा सकता है, उसे जनमत की बौद्धिकता का समर्थन न प्राप्त हो। यह जन्म-दर और मृत्यु-दर का अन्तर ही है जो किसी देश की जनसंख्या की वृद्धि को निर्धारित करता है, लेकिन जबकि मृत्यु दर जैसा कि पाया गया है, कुछ ही लोगों द्वारा सार्वजनिक कारवाई करने से कम की जा सकी है, लेकिन जन्म-दर को बहुत से व्यक्तियों के निजी कार्य से ही कम किया जा सकता है या स्थिर किया जा सकता है। यह एक अलग बात है कि सरकार इस नियम को स्वीकार करे और यह एक दूसरी बात है कि जनता इस नियम को व्यवहार में लाए।

हमारी चेतना में इस सत्य को घर कर लेना चाहिए कि जब तक हम जन्म-दर को कम नहीं कर लेते तब तक भारत अपने आप को ही दुर्दशा की खाई में धकेल देगा। वे दिन चले गए जब हमारे पूर्वज यह कहा करते थे कि किसी भी आदमी को तभी स्वर्ग मिलेगा जब वह अपने पीछे उसकी प्रेतात्मा को पिंडदान समर्पित करने के लिए एक पुत्र को छोड़े; जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि हमारे पास बहुत कम भूमि है अथवा इतनी भूमि नहीं है कि हम अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को आराम से रख सकें। विश्व के सबसे अधिक धनी देश अमरीका में भी यह आवश्यक समझा जाता है कि परिवार परिसीमन का अभ्यास किया जाए। अतः अब किसी ऐसी दलील की आवश्यकता नहीं है जो हमारे देश की परिस्थितियों में परिवार नियोजन के लिए हमें कायल न कर दे जबकि हम अपनी कृषि और औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करेंगे और हमें सभी प्रकार के प्रयत्न करने चाहिए। हमें यह भी योजना बनानी होगी कि हमारी जनसंख्या की संवृद्धि-दर काफी कम हो जाए। आर्थिक उत्पादन और जनसंख्या-नियन्त्रण के क्षेत्र में निरंतर कार्य किया जा सकता है। इन दोनों में कोई भी विरोध नहीं है और दोनों का ही समान महत्त्व है।

निष्कर्ष रूप में हम वैरा एनस्टे ने जन्म-नियन्त्रण के अभ्यास के लिए भारतीय आवश्यकता के सम्बन्ध में 50 वर्ष पूर्व जो लिखा था, उसे पाठकों को बताना चाहेंगे :

> "सर्वाधिक रूप से यह मान लेना ही चाहिए कि भारत की सामान्य समृद्धि तीव्रता या पर्याप्त ढंग से कभी भी तब तक नहीं बढ़ सकती जब तक कि व्यक्तिगत आय में की हुई वृद्धि जीवन स्तर की वृद्धि नहीं करती बल्कि वह जनसंख्या की वृद्धि में ही विलीन हो जाती है। जनसंख्या की समस्या भारत के समूचे आर्थिक भविष्य के मूल में निहित है और इस तथ्य को दबाना निरर्थक ही साबित होगा।"[9]

9. 'द इकनॉमिक डवलपमेंट इन इंडिया', लंदन : लौंग्समैन्स, 1929, पृष्ठ 474, 'द पॉपुलेशन ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान', डॉ० किसले डेविस, पृष्ठ 203 से उद्धृत।

नेशनल
पब्लिशिंग
हाउस
स्थापित १९५०।
२३, दरियागंज
नयी दिल्ली-११०००२

भारतीय राजनीति अयवा अर्थव्यवस्था के विद्यार्थियों को चरण सिंह का परिचय देने की जरूरत नहीं है। उनके विचारों से सहमति-असहमति होने की बात दीगर है, लेकिन कोई व्यक्ति इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि चौधरी साहब ने भारत की ग्रामीण जनता के प्रति तीव्र अवहेलना के प्रश्न को राष्ट्रीय स्तर पर पूरी ताकत के साथ जोरदार शब्दों में उठाया है।

प्रस्तुत पुस्तक को चौधरी चरण सिंह के अनुसार **भारत की भयावह आर्थिक स्थिति** नाम दिया गया है। आज भारतीय जनता की दुःखद और दयनीय वस्तुस्थिति की जानकारी के लिए कोमल शब्दजाल की आवश्यकता नहीं है। गरीबी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, शहरों और गांवों में शिक्षित और अशिक्षित लोगों की बेरोजगारी तेजी से बढ़ रही है, आदमी और आदमी तथा शहर और गांव के बीच आर्थिक खाई भी गहरी ही होती जा रही है। गांधी जी का विचार था कि सारी विकास योजनाओं का केन्द्रबिन्दु गांव को माना जाये, योजना चाहे राजनीतिक हो या आर्थिक। लेकिन नेहरू के विचार भिन्न थे—और चरण सिंह जी ने अदम्य साहस के साथ इस पुस्तक में भारतीय अर्थ-व्यवस्था की सभी बुराइयों के लिए नेहरू की दोषपूर्ण योजना-नीति को उत्तरदायी ठहराया है।

गांधी जी की मूल दिलचस्पी और प्रवृत्ति योजना को जड़ से ही कार्यान्वित कराने में थी। गांधी जी यह मानते थे कि भारत की सेवा कृषि के जरिये अपेक्षाकृत अधिक और शीघ्रता से की जा सकती है। लेकिन नेहरू जी ने विशाल, खर्चीली, पूंजी-प्रधान योजनाओं को वरीयता दी, जो न केवल समय-साध्य और श्रम को कम करने वाली थीं बल्कि विरल संसाधनों और विदेशी मुद्रा के उपयोग में खर्चीली योजनाएं भी थीं। बताने की जरूरत नहीं कि भारत में आर्थिक संकट लगातार बढ़ता गया है, जिसने इस शताब्दी के छठे दशक से भारतीय वातावरण को आच्छादित कर रखा है और जिसके कारण हम उन भूलों को भी नहीं देख सके जो कि की गयी थीं। साथ ही सभी चेतावनी संकेतों की बराबर अवहेलना की गयी है। जैसा कि लेखक को विश्वास है कि देश की सेवा की जानी है और भारत को भयावह आर्थिक स्थिति से छुटकारा पाना है तो नेहरू जी की नीति के स्थान पर गांधी जी की शिक्षाओं पर आधारित नीति को लाना होगा।

50.00